वर्ष 39, अंक 2 जुलाई–दिसम्बर, 2025

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाणमासिक

संस्थापक–सम्पादक
यशदेव शल्य

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

दर्शन प्रतिष्ठान

जयपुर

परामर्श-मण्डल

1. **अशोक वाजपेयी,** सी–60, अनुपम को–ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली–110096
2. **नवजीवन रस्तोगी,** बी–202, स्टर्लिंग अपार्टमेंट, 9–विश्वविद्यालय मार्ग, लखनऊ–226007
3. **अशोक वोहरा,** सी–748, विकासपुरी, नई दिल्ली–110018
3. **अभय कुमार दुबे**, 7–सनब्रीज अपार्टमेंट, टावर–1, सेक्टर–5, वैशाली, गाजियाबाद–201010

संस्थापक-सम्पादक

यशदेव शल्य

सम्पादक

1. **अम्बिकादत्त शर्मा,** बी–31/80ए–एस–2एन–आर, भोगावीर, नरिया, लंका, वाराणसी–221005, दूरभाष 09406519498
2. **प्रदीप कुमार खरे,** आर.बी. 72, इण्डस गार्डन, गुलमोहर,

   भोपाल–462039, दूरभाष 09425029308

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Refereed Journal)

प्रकाशित रचनाओं के अभिमत से 'उन्मीलन' के प्रकाशकों या सम्पादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है। 'फ्लेजिरिज्म सम्बन्धी शुचिता की जिम्मेदारी लेखक की है।

कमलनयन एवं अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा **दर्शन प्रतिष्ठान**, पी–51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए प्रकाशित।

अनुक्रमणिका

1. सामूहिक अतिचार से उपजा अस्तित्व संकट : पर्यावरण सैद्धांतिकी की गहन मीमांसा — 5
   विश्वनाथ मिश्र

2. पश्चिमी दर्शन में संदेहवाद : पक्ष, विपक्ष एवं उभरते आयाम — 71
   रवीन्द्र के.एस. चौधरी

3. इलोकेशनरी वाक्–क्रिया : परम्परावादी एवं अभिप्रायवादी दृष्टिकोण — 109
   प्रियान्शु अग्रवाल

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	–	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म–संकट	–	मुकुंद लाठ	200.00
3.	कर्म–चेतना के आयाम	–	मुकुंद लाठ	250.00
4.	क्या है?क्या नहीं है?	–	मुकुंद लाठ	150.00
5.	मूल्यतत्त्व–मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	–	यशदेव शल्य	200.00
6.	चिद्विमर्श	–	यशदेव शल्य	175.00
7.	तत्त्व–चिन्तन	–	यशदेव शल्य	200.00
8.	चित् की आत्म–गवेषणा	–	यशदेव शल्य	250.00
9.	काव्य–विमर्श	–	यशदेव शल्य	250.00
10.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–धाराएं	–	यशदेव शल्य भगवती	150.00

11. यशदेव शल्य की सभी मौलिक कृतियों का संग्रह अब 'यशदेव शल्य समग्र' शीर्षक से चार खण्डों में उपलब्ध है। प्रत्येक खण्ड का मूल्य 1,600/– तथा चारों खण्डों का मूल्य 6,400/– है।

प्रकाशक :– डी.के. प्रिण्टवर्ल्ड (प्रा.) लि., वेदश्री, एफ– 395, सुदर्शन पार्क, नई दिल्ली–110015, दूरभाष 011–25453975

सामूहिक अतिचार से उपजा अस्तित्व संकट : पर्यावरण सैद्धांतिकी की गहन मीमांसा

विश्वनाथ मिश्र

संस्कृत में पर्यावरण शब्द की व्युत्पत्ति परि धातु में आङ् प्रत्यय लगने और वृ का ल्युट होने से पर्यावरण शब्द सिद्ध होता है। यथा परितः आ समन्तात वृणोति इति पर्यावरणम्, अर्थात् जो जो चारो ओर से सम्यक् प्रकार से आवृत रहता है। आंग्ल भाषा में पर्यावरण शब्द फ्रेंच क्रियावाची शब्द एनवायरनर से लिया गया है, जिसका अर्थ है घेरा, परिधि या घेरना। अतः व्युत्पत्तिपरक अर्थ में पर्यावरण के अर्थ को लेकर ब्राह्मिक एवं अब्राह्मिक परम्परा में भेद नहीं है। एक पारिस्थितिक (इकोलॉजीकल) और जैविक (बायोलॉजीकल) संदर्भ में पर्यावरण को भौतिक, रासायनिक और जैविक कारकों के समूह के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जो किसी जीव या पारिस्थितिकी (इकोलॉजी) तंत्र को घेरते हैं और उसके साथ अन्तःक्रिया करते हैं।[1] वस्तुतः पारिस्थितिकी तंत्र (इकोलॉजीकल) पद पर्यावरण शब्द के लिए एक अधिक सटीक और विस्तृत विकल्प प्रदान करता है। पारिस्थितिकी तंत्र चार समान रूप से महत्त्वपूर्ण घटकों से बना हैः वायुमंडल (वायु), जलमंडल (जल), स्थलमंडल (मिट्टी) और जीवमंडल (जीव)।[2] रोवे ने निष्कर्ष निकाला कि 'पारिस्थितिकी तंत्र' (इकोलॉजीकल) का प्रयोग पर्यावरण संरक्षण के लिए अधिक सार्थक है, क्योंकि यह पर्यावरण के जैविक और अजैविक भागों को समान रूप से महत्त्व देता है। पर्यावरणवाद हमें पारिस्थितिकी तंत्र को बाहर से देखने और समझने की शिक्षा देता है; जिसमें केंद्र स्वयं मनुष्य होता है और इस नाते यह मानवकेन्द्रितावादी (होमोसेंट्रिज्म) विचार है। इसे हम कई बार एंथ्रोपोसेंट्रिज्म भी कहते हैं। जबकि पारिस्थितिकी तंत्र की अवधारणा हमें प्रमुख वास्तविकता के रूप में पारिस्थितिकी को ही केंद्र में रखने का सुझाव देती है।[3]

उन्मीलन – वर्ष 39, अंक 2, जुलाई–दिसम्बर 2025
ISSN-0974-0053 (Refereed Journal)

यदि मानव–केंद्रितता का अर्थ है कि पूरा ब्रह्मांड मानव जाति के हितों के इर्द–गिर्द घूमता है और सभी मानवीय गतिविधियाँ मानव–केंद्रित हैं, तो पारिस्थितिकी–केंद्रितता विचारों का एक ऐसा प्रारूप है जो सैद्धांतिक रूप से मानव–केंद्रितता के विपरीत है। पारिस्थितिकी–केंद्रितता का विचार किसी एक जीव को दूसरे जीव या प्रजाति पर वरीयता नहीं देती है, अपितु यह सभी जीवों एवं प्रकृति के अन्य घटकों को एक अविच्छिन्न श्रृंखला का हिस्सा मानती है। यह दार्शनिक बहस उन मूल्यों और अवधारणाओं को दर्शाती है जो आधुनिक पर्यावरणीय नैतिकता और राजनीति के केंद्र में तबसे आ गई हैं जबसे मानवजाति ने आधुनिक काल में पर्यावरणीय असंतुलन को अपने लिए अस्तित्वात्मक संकट के रूप में समझना शुरू कर दिया है। भारतीय परिप्रेक्ष्य से विचार करें तो जिसे भारत में चराचरवाद कहा गया है, पारिस्थितिकी–केंद्रिततावाद को उसका समानार्थी कहा जा सकता है। तथापि, यह ध्यातव्य है कि भारत में जिसे चराचरवाद कहा गया है वह कोई पर्यावरण प्रदूषण के बाद उसे दूर करने के लिए रची गई जीवन दृष्टि या विचार पद्धति नहीं है; बल्कि वह सनातन बोध का एक हिस्सा है; जबकि पश्चिम का पारिस्थितिकी–केंद्रिततावाद पर्यावरण प्रदूषण से जूझते हुए आधुनिक मानव के द्वारा गढ़ा गया एक विचार और जीवन पद्धति है, जिसमें दुनिया की अनेक सभ्यताओं के चिंतन से सामग्री उधार ली गई है। अतः पर्यावरणवाद का कोई एक ही प्रारूप नहीं है, इसके विभिन्न सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य हैं, जिनकी ठोस समझ न केवल प्रासंगिक बल्कि आवश्यक भी है।

1. मानवकेन्द्रिततावाद

पश्चिमी समाजों में मानव–केंद्रितता के प्रचलन का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। मानव–केंद्रितता का दर्शन मनुष्य को ब्रह्मांड का केंद्र और सभी मूल्यों का स्रोत मानता है। हालाँकि, 'मानव–केंद्रितता' शब्द अवधारणात्मक स्तर पर 1970 के दशक के अंत से ही लोकप्रिय प्रचलन में आया।[4] नॉर्टन ने मानव आवश्यकताओं की दो अलग–अलग व्याख्याओं के आधार पर मजबूत और कमजोर मानव–केंद्रितता के बीच अंतर किया है। प्रथम, अनुभूत वरीयता जो व्यक्तिगत अनुभव के माध्यम से पूरी होने वाली मानवीय इच्छा या आवश्यकता है। द्वितीय, विचारित वरीयता जो स्थापित विश्वदृष्टिकोण, जैसे कि वैज्ञानिक सिद्धांतों, सौंदर्य मूल्यों और नैतिक आदर्शों के बारे में सावधानी पूर्वक विचार–विमर्श के अनुरूप प्राप्त मानवीय इच्छा या आवश्यकता है।[5]

तदनुसार, मजबूत मानव–केंद्रितता गैर–मानवीय तत्त्वों और वस्तुओं को उनकी अनुभूत वरीयताओं को संतुष्ट करने की क्षमता के लिए महत्त्व देती है, जबकि कमजोर मानव–केंद्रितता प्राकृतिक तत्त्वों को उनकी विचारित वरीयताओं और अनुभूत वरीयताओं दोनों को संतुष्ट करने की क्षमता के लिए महत्त्व देती है। गैर–मानवीय तत्त्वों के अंतर्निहित मूल्य को स्वीकार किए बिना, कमजोर मानव–केंद्रितता प्रकृति के प्रति शोषणकारी दृष्टिकोण को रेखांकित करने वाली मूल्य प्रणालियों पर सवाल उठाती है।[6] इन दोनों के मध्य स्पष्ट अंतर न कर पाने की वजह से हम कई बार अपने ऐसे कृत्यों को पर्यावरण रक्षा का उपक्रम मान लेते हैं, जो वास्तव में पर्यावरण रक्षा के सूत्र होते ही नहीं हैं। पुनः यदि एक क्षेत्र में पर्यावरण रक्षा भी सिद्ध के उपक्रम होते हैं तो दूसरे क्षेत्र में वही पर्यावरण विनाश का कारण बनते हैं।

मानव–केंद्रितता के समर्थक कांट की इस दृष्टि पर अपने विचार बनाते हैं कि नैतिक मूल्यों को केवल मनुष्यों तक ही सीमित रखा जाना चाहिए, क्योंकि वे ही तर्क और भाषा का उपयोग करने में सक्षम हैं; जबकि 'मानवेतर पर्यन्त' नैतिक विचारों के विस्तार को तर्कहीन और अव्यावहारिक मानकर उसकी निंदा करते हैं।[7] हालाँकि, इसके समर्थकों ने तर्क दिया है कि मानव–केंद्रितता आवश्यक रूप से प्राकृतिक संसाधनों के लालची शोषण या जीवित प्राणियों के अनावश्यक दुरुपयोग का पर्याय नहीं है। जैसा कि मर्फी ने कहा, ''समस्या यह है कि हम 'उचित उद्देश्यों' के बीच अंतर करने में कठिनाई महसूस करते हैं, जो प्रगतिशील हैं और मानवीय मूल्यों को बढ़ावा देते हैं, और 'अनुचित उद्देश्य', जो प्रतिगामी हैं और मानवीय मूल्यों को नष्ट करते हैं।''[8] फिर भी, व्यक्तिवाद और तर्कसंगत सोच की उदार परंपरा में निहित मानव–केंद्रितता जानवरों से परे करुणा का विस्तार करने की अपनी क्षमता में सीमित है।[9] इसलिए, ''पौधों या यहाँ तक कि परिदृश्यों के साथ करुणापूर्वक खुद की पहचान करना 'अनुचित' लगता है। ऐसा देखा और अनुभव किया जा सकता है कि किन्हीं परिस्थितियों में जानवरों और पौधों तक करुणा के विस्तार और तदनुरूप व्यवहार में न केवल तर्क इसके खिलाफ संघर्ष करता है, बल्कि शायद भावनाएँ भी इसके खिलाफ संघर्ष करती हैं।''[10]

अधिकांश पर्यावरणविद् मानवकेंद्रितता को पारिस्थितिक संकटों के पीछे दार्शनिक प्रेरक शक्ति के रूप में देखते हैं। बॉसेल मैन ने मानवकेंद्रित प्रतिमान के विरुद्ध चार आपत्तियों की पहचान की है।[11] पहली आपत्ति झूठी मानवकेंद्रित धारणाओं से संबंधित है, जैसे कि अन्य जीवित प्राणियों पर मनुष्यों की श्रेष्ठता और ब्रह्मांड में मानव जाति की केंद्रीयता। पर्यावरणविदों का दावा है कि ये धारणाएँ भ्रामक हैं, क्योंकि मनुष्य न तो ब्रह्मांड के केंद्र में हैं और न ही विकास के शिखर पर है।[12] दूसरी आपत्ति यह है कि मानवकेंद्रित दृष्टिकोण पारिस्थितिक आपदाओं को जन्म देते हैं और कानून तथा राजनीति के माध्यम से पारिस्थितिक परिवर्तन पारिस्थितिक केंद्रित परिवर्तन के बिना अप्रभावी है।[13] तीसरी आपत्ति मानवकेंद्रित नैतिकता की वैधता पर सवाल उठाती है और वह यह कि जब यही मानदंड मनुष्यों के विभिन्न समूहों, विशेष रूप से शिशुओं और मानसिक रूप से विकलांग लोगों पर लागू होते हैं तब उन्हें हम नैतिक दायरे से बाहर क्यों नहीं कर पाते हैं। चौथी आपत्ति यह है कि मानव–केंद्रितता लोगों को अपनी कक्षा में बंद कर देती है और मानव–केंद्रित प्रतिमान को अपरिहार्य बना देती है।[14] मानव–केंद्रितता और पारिस्थितिकी–केंद्रितता के बीच का अंतर, कई मामलों में, साधन और आंतरिक मूल्यों के बीच का अंतर है। किसी चीज का साधन मूल्य उसके उपयोग के साथ समाप्त हो जाता है, इसलिए यह निष्कर्ष निकलता है कि उसका मूल्य अन्य संस्थाओं से उसके संबंध या किसी विशिष्ट प्रणाली में उसके द्वारा किए जा सकने वाले कार्यों पर निर्भर करता है। हालाँकि, किसी निश्चित इकाई का आंतरिक मूल्य किसी भी मूल्य प्रणाली का सार है, क्योंकि यह किसी अन्य कारक से स्वतंत्र इकाई के मूल्य के इर्द–गिर्द घूमता है। यहाँ कैलिकॉट की पंक्तियों का उल्लेख समीचीन होगा जो कहते हैं कि किसी चीज को आंतरिक रूप से महत्त्व देना... किसी चीज को उसके लिए, अपने आप में एक अंत के रूप में महत्त्व देना है।[15]

2. पर्यावरण केन्द्रितातावाद

पारिस्थितिकी–केन्द्रवाद एक एकीकृत सिद्धांत या दर्शन नहीं है, बल्कि अनेक पर्यावरणीय प्रवृत्तियों का संकलन है। इसमें आध्यात्मिक, वैज्ञानिक और तत्त्वमीमांसा आपस में मिलकर हरित या मौलिक सिद्धांतों के विभिन्न रूपों का निर्माण करते हैं। बॉसेल मैन के शब्दों में, पारिस्थितिकी–केंद्रिततावाद का विचार मानव–केंद्रिततावाद की आलोचना से विकसित हुई

है और आज इसका उपयोग उन सभी मूल्य प्रणालियों के लिए एक सामूहिक शब्द के रूप में किया जाता है जो मानव–केंद्रित नहीं हैं।[16] प्रकृति का आंतरिक मूल्य पारिस्थितिकी–केंद्रितता के दर्शन में प्रमुख अवधारणा है, और इस अवधारणा का मूल मानवता को ब्रह्मांड के केंद्र से हटाकर प्रकृति के साथ प्रतिस्थापित करने में निहित है। जैसा कि बॉसेल मैन ने उल्लेख किया है कि पारिस्थितिकी–केंद्रितता मानव विचार के केंद्र को मनुष्यों से हटाकर मनुष्यों और प्रकृति के बीच अंतर्संबंधों के नेटवर्क में स्थानांतरित करना है।[17] हम देख सकते हैं कि कुछ उदाहरणों में जैव–केंद्रितता को पारिस्थितिकी–केंद्रितता का पर्याय माना जाता है, लेकिन दोनों शब्दों के बीच कुछ दार्शनिक अंतर हैं, जिसकी अनदेखी नहीं की जा सकती। बायोसेंट्रिज्म संवेदनशील और गैर–संवेदनशील दोनों तरह के व्यक्तिगत जीवों को नैतिक दर्जा प्रदान करता है, जबकि इकोसेंट्रिज्म नैतिक स्थिति को 'अति–व्यक्तिगत समग्र' जैसे कि प्रजातियों और पारिस्थितिकी तंत्रों को शामिल करने के लिए प्रस्ताव रखता है।[18] रोवे ने बायोसेंट्रिज्म की अवधारणा के खिलाफ तर्क दिया और इसे एक भ्रामक और न्यूनीकरणवादी अवधारणा माना जो जीवन को 'जीवों' तक सीमित करती है, जिसका अर्थ है कि उनके आसपास का वातावरण अकार्बनिक है या जीवन से रहित है। यह गलत धारणा पृथ्वी के उन हिस्सों के अप्रतिबंधित दोहन का द्वार खोलती है जिन्हें 'मृत' माना जाता है, जैसे कि पानी, जमीन और हवा। इस 'जैविक भ्रांति' को खत्म करने के लिए रोवे ने इकोसेंट्रिज्म शब्द के उपयोग का सुझाव दिया, क्योंकि यह "पारिस्थितिकी तंत्र और उसमें शामिल पारिस्थितिकी तंत्रों को उच्चतम मूल्य प्रदान करने" के लिए अधिक अनुकूल है।[19] एक पर्यावरणीय अवधारणा के रूप में, इकोसेंट्रिज्म नया नहीं है और इसके बीज पूर्व–आधुनिक युग से ही मिलने लगते हैं। यद्यपि समाज और प्रकृति के बीच संबंधों की पूर्व–आधुनिक धारणाएँ वैज्ञानिक और तकनीकी उन्नति के आगमन के साथ लुप्त नहीं हुईं; इनमें से कुछ विचार, जैसे कि ग्रेट चेन ऑफ बीइंग, अभी भी कई आधुनिक पारिस्थितिक अवधारणाओं में व्याप्त हैं।[20]

'ग्रेट चेन ऑफ बीइंग' ब्रह्मांड को एक जैविक और व्यवस्थित संरचना के रूप में मानता है जो एक पदानुक्रम में जीवित और निर्जीव प्राणियों के उत्तराधिकार पर आधारित है और जो सबसे बुनियादी और समझदार से लेकर उच्चतम और सबसे आदर्श तक है।[21] इस श्रृंखला में,

मनुष्य उच्च आध्यात्मिक प्राणियों, जैसे कि स्वर्गदूतों, और निचले स्तर के जैविक और अजैविक तत्त्वों, जैसे कि जानवरों, पौधों, पानी और हवा के बीच स्थित है। ये सभी तत्त्व आपस में घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं, और पदानुक्रमिक प्रणाली की सुसंगतता के लिए समान रूप से आवश्यक हैं। इसका अर्थ यह है कि किसी भी कड़ी का विनाश पूरी शृंखला की व्यवहार्यता को खतरे में डाल देगा।[22] उल्लेखनीय है कि दो महत्त्वपूर्ण तत्त्व महान शृंखला की विशेषता हैं। प्रथम, प्रकृति के साथ अपने संबंधों में मानव की जीववाद और विनम्रता। सबसे पहले, महान शृंखला की अवधारणा मनुष्यों को अपने से नीचे के अन्य प्राणियों की तुलना में अनिवार्य रूप से 'उच्च' नहीं मानती है, जो जानवरों, पौधों, पहाड़ों और नदियों जैसी प्राकृतिक वस्तुओं को आत्माओं के गुणन में जीववादी विश्वास के आधार पर प्रकृति के प्रति विनम्रता और श्रद्धा की भावना पैदा करती है। द्वितीय,जीववाद (एनिमिज्म) जिसका अभ्यास कई आदिवासी समुदायों और धार्मिक समूहों द्वारा किया जाता है। इन दोनों अवधाराणाओं ने अनेक आधुनिक पर्यावरणीय अवधारणाओं को प्रभावित किया है, जिनमें कि गहन पारिस्थितिकी भी एक है।[23] गहन पारिस्थितिकी, ट्रांसपर्सनल पारिस्थितिकी और गैया परिकल्पना पारिस्थितिकीवाद के आधुनिक रूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं। जबकि, अपेक्षाकृत पुराने प्रकार के भी कुछ पारिस्थितिकीवाद रहे हैं, जैसे कि पशु मुक्ति, पक्षी प्रपीडन प्रतिरोध आदि। ऐसे आन्दोलन एक तरह से सीधे–सीधे पर्यावरण संरक्षण से नहीं जुड़े हुए थे, बल्कि इनमें पशु–पक्षियों के अधिकारों की वकालत की गई थी। किन्तु पशु–पक्षियों को उन्मुक्त जीवन देने की मांग में पर्यावरण संरक्षण का विचार स्वतः ही एक शर्त के रूप में प्रकट हो जाता है।

3. पशु मुक्ति और पर्यावरणवाद

पशु मुक्ति से जोड़कर यदि पर्यावरणवाद को देखा जाए तो भारत में जैन एवं बौद्ध धर्म के प्रवर्तन के समय से ही इसे एक विचार एवं संगठित प्रयास के रूप में देखा जा सकता है। ऐसे में 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' का तर्क अंततः पर्यावरण रक्षा के विरुद्ध भी चला जाता है। आधुनिक युग में और विशेषकर पश्चिम में जेरेमी बेंथम (1748–1832) पहले ऐसे दार्शनिक थे जिन्होंने कुछ गैर–मानव जीवन रूपों को उनकी खुशी महसूस करने और दुख का अनुभव करने की क्षमता के आधार पर नैतिक मूल्यों के निर्धारण को

उचित ठहराया। संवेदनशीलता की यह कसौटी कांटीय नैतिकता की उस कठोरता का खंडन करती है, जो नैतिक विचार को तर्क करने और बात करने में सक्षम प्राणियों तक सीमित करती है।[24] बेंथम के उपयोगितावाद का हवाला देते हुए सिंगर ने कहा कि सभी संवेदनशील प्राणी, चाहे मानव हों या गैर–मानव, दर्द से बचने में रुचि रखते हैं और ये रुचियाँ समान विचार के योग्य होनी चाहिए।[25] सिंगर ने अन्य प्रजातियों के सदस्यों के खिलाफ भेदभाव की निंदा की, जिसे उन्होंने 'प्रजातिवाद' कहा; यह तर्क देते हुए कि कुछ जानवरों को नैतिक क्षेत्र से बाहर करना लिंगवाद और नस्लवाद के समान है। उन्होंने जानवरों को नैतिक विचार से बाहर करने के लिए भाषाई और तर्कसंगत क्षमताओं पर निर्भरता का खंडन किया। सिंगर के दर्शन ने पशु अधिकारों और पशु मुक्ति आंदोलनों को प्रेरित किया, जिन्होंने पशु प्रयोग और व्यापार के खिलाफ अभियान चलाया है।

पशु मुक्तिवादी भोजन या चिकित्सा प्रयोगों के लिए पशुओं की हत्या का विरोध करते हैं, इस आधार पर कि ये प्राणी पीड़ा सहने में सक्षम हैं, और संवेदनशील जानवरों को दर्द पहुँचाना नैतिक रूप से अस्वीकार्य है। जबकि सिंगर,जो एक उपयोगितावादी थे, ने जानवरों को नैतिक अधिकार नहीं देने का विकल्प चुना, पशु अधिकारों के एक प्रमुख अधिवक्ता रेगन ने सिंगर के पशु मुक्ति के सिद्धांत की व्याख्या की और सुझाव दिया कि मनुष्य की तरह जानवर भी 'जीवन के विषय' हैं और उनमें समान अंतर्निहित मूल्य हैं। मनुष्यों को 'जीवन का विषय' माना जाता है, यदि उनके पास "विश्वास, इच्छाएँ और प्राथमिकताएँ हैं; यदि वे अपनी इच्छाओं और लक्ष्यों की खोज में जानबूझ कर कार्य करने में सक्षम हैं; यदि वे संवेदनशील हैं और उनका भावनात्मक जीवन है। रेगन के विचार में अंतर्निहित मूल्य वाले जानवरों को बुनियादी नैतिक अधिकार जैसे सम्मानजनक व्यवहार का अधिकार और नुकसान न पहुँचाए जाने का अधिकार प्राप्त है। मनुष्यों और कुछ गैर–मानव प्राणियों को नैतिक स्थिति प्रदान करने के औचित्य को सही ठहराने के लिए इस्तेमाल किए जाने वाले तर्क और संवेदनशीलता के मानदंडों के अलावा स्पिनोजा की 'कोनाटस' या प्रयास की अवधारणा पर भी 'नैतिक स्थिति पर एक जैव–केंद्रित और पारिस्थितिक–केंद्रित स्थिति के लिए वर्णनात्मक आधार' के रूप में भरोसा किया गया है। 'कोनाटस' से स्पिनोजा

ने "प्रत्येक वस्तु को, जहाँ तक वह अपनी शक्ति (क्वांटम इन सेस्ट) द्वारा कर सकती है, अपने अस्तित्व में बने रहने का प्रयास करने" का उल्लेख किया।[26]

इस विवरण के आधार पर गामलुंड ने तर्क दिया कि यदि किसी इकाई में अपने अस्तित्व के लिए प्रयास करने और लड़ने की शक्ति है, चाहे वह ऐसी शक्ति के बारे में जानता हो या नहीं, तो वह नैतिक स्थिति का हकदार है; अन्यथा वह नहीं है।[27] इसका अर्थ है कि एक जैविक समुदाय में व्यक्तिगत जीवित प्राणियों को नैतिक स्थिति प्राप्त होती है, जो जैव–केंद्रित अवधारणा के लिए एक दार्शनिक आधार का प्रतिनिधित्व करती है। गामलुंड ने यह भी सुझाव दिया कि प्रजातियों, पारिस्थितिकी तंत्रों या जीवमंडल इत्यादि पर समान तर्क लागू करना संभव है, और ऐसा करने से पारिस्थितिक अवधारणा के लिए आधार मिलता है।[28]

पशु अधिकारों के कई विरोधियों ने इस विचार का खंडन इस आधार पर किया है कि केवल मनुष्य ही अन्य मनुष्यों और पशुओं के प्रति नैतिक जिम्मेदारी से संपन्न हैं। वॉरेन ने माना कि पशुओं के लिए 'पूर्ण और समान' अधिकारों के दायरे का विस्तार करना उचित या नैतिक रूप से अनिवार्य नहीं है; क्योंकि पशुओं में वह आवश्यक नैतिक स्वायत्तता नहीं है जो उन्हें मनुष्यों और अन्य पशुओं के प्रति नैतिक अधिकारों का आदान–प्रदान करने की अनुमति देता हो।[29] पशु अधिकारों के अन्य विरोधियों ने अपने तर्क इस तथ्य पर आधारित किए हैं कि गैर–मानव शिकारी जीविका के लिए अन्य पशुओं को मारने पर निर्भर हैं। वॉरेन ने तर्क दिया कि ''मामूली कारणों से जानवरों को मारना गलत है, लेकिन ऐसा करना तब गलत नहीं है जब किसी महत्त्वपूर्ण लक्ष्य को प्राप्त करने का कोई अन्य तरीका न हो, जैसे कि खतरे में पड़ी प्रजातियों का संरक्षण।''[30] पशु अधिकार कार्यकर्ता और अधिवक्ता जो अत्यधिक मानवद्वेषी दृष्टिकोण अपनाते हैं, उनकी आलोचना इस बात के लिए की जाती है कि वे मनुष्यों की तुलना में पशुओं के अस्तित्व और कल्याण को प्राथमिकता देते हैं। किन्तु, यदि हम पर्यावरण प्रतिरक्षण पर समग्र दृष्टि से विचार करें तो इसमें प्रकृति के सभी तत्त्वों जिसे भारतीय तत्त्वशास्त्र में पंचमहाभूत कहा गया है, वे सभी शामिल हैं और सबके प्रति द्वेष रहित व्यवहार ही पर्यावरण संकट से मुक्ति का मार्ग है। अब किसके प्रति कब और कैसा व्यवहार करना है, इसके निर्धारण के लिए समत्व और ममत्व के साथ–साथ शाश्वत धर्म और आपद् धर्म का विवेक भी अपेक्षित है। किन्तु, आपद् धर्म ही जन–व्यवहार का निर्देशक बन जाए, यह

भी एक प्रकार का अधर्म ही है और इसी अधर्म का पालन आज समुदाचार बन गया है।

4. गहन (डीप) पारिस्थितिकी एवं परावैयक्तिक (ट्रांसपर्सनल) पारिस्थितिकी

प्रकृति को आंतरिक मूल्य प्रदान करने से संबंधित दर्शन को संदर्भित करने के लिए 'गहरी पारिस्थितिकी' और 'पारिस्थितिकी–केंद्रवाद' का परस्पर उपयोग किया जाता है, लेकिन ये दोनों अवधारणाएँ आपस में थोड़ी भिन्न हैं। पारिस्थितिकी–केंद्रवाद अपने दायरे में व्यापक है और गैर–मानव–केंद्रित दृष्टिकोणों की एक विस्तृत श्रृंखला को शामिल करता है, जबकि गहन पारिस्थितिकी अपेक्षाकृत अच्छी तरह से परिभाषित सिद्धांतों के साथ एक विशिष्ट दर्शन है, जिसका मूल यह है कि सभी जीवों का अपना मूल्य है और वह मनुष्य की दृष्टि से परिभाषित उपयोगिता से सीमित नहीं है। नॉर्वेजियन दार्शनिक अर्ने नेस ने 1973 में गहन पारिस्थितिकी शब्द गढ़ा, जो उन्होंने उथली पारिस्थितिकी के विरोध में माना था। 'गहन पारिस्थितिकी' से नेस ने मानव मूल्यों और जीवन शैली से संबंधित गहन और गहरी पूछताछ प्रक्रिया को संदर्भित किया जो प्रकृति को प्रभावित करती है; 'उथली पारिस्थितिकी' से, नेस ने प्रदूषण और प्राकृतिक संसाधनों की कमी जैसी पारिस्थितिक समस्याओं से निपटने के लिए अपनाए गए त्वरित–समाधान वाले पर्यावरणीय दृष्टिकोणों और नीतियों का उल्लेख किया है।[31]

नेस ने गहन पारिस्थितिकी को लगभग एक मसीहाई आंदोलन या 'जीवनशैली–उन्मुख सिद्धांत' के रूप में बढ़ावा दिया, जैसा कि सिल्वन ने इसे वर्णित किया है।[32] इस पारिस्थितिक–केंद्रित आदर्श को प्राप्त करने के लिए नेस ने मानव समाजों से 'पारिस्थितिकी विज्ञान' या पारिस्थितिक ज्ञान को अपनाने का आग्रह किया, जो केवल पारिस्थितिक विज्ञान पर निर्भर नहीं करता है, बल्कि अन्तर्ज्ञान जैसे ज्ञान के अन्य रूपों को देखता है। उनके 'इकोसॉफी टी' में मुख्य बिंदु, जैसा कि नेस ने इसे माना है, पृथ्वी पर सभी जीवन रूपों के आंतरिक मूल्य की मान्यता और पर्यावरण के लिए गहरी जड़ें वाले साधन दृष्टिकोण की अस्वीकृति के इर्द–गिर्द घूमता है। पारिस्थितिकी विज्ञान या गहन पारिस्थितिकी सभी प्रकार के जीवन के बीच समानता का आह्वान है और उसका लक्ष्य विषय–वस्तु, प्रकृति–मानव और सभ्यता–बर्बरता जैसे द्वैतवादों के बीच की खाई को पाटना है।

गहन पारिस्थितिकीविद् प्रकृति के अंतर्निहित मूल्य में विश्वास करते हैं और मानते हैं कि मनुष्य पृथ्वी ग्रह का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा हैं। जीवविज्ञानी लुईस थॉमस ने इसे इस तरह से कहा : ''पृथ्वी एक ऐसा ग्रह नहीं है जिस पर जीवन है; बल्कि यह एक जीवित ग्रह है।''[33] कई गहन पारिस्थितिकीविद् मानते हैं कि पर्यावरण की सुरक्षा के लिए पश्चिमी मानसिकता में एक आदर्श बदलाव की आवश्यकता है, जो वर्तमान में 'आध्यात्मिक विकास' के बजाय मानवीय संतुष्टि प्राप्त करने में भौतिक आवश्यकताओं की भूमिका पर अधिक जोर देती है। अनावश्यक और झूठी जरूरतें पैदा करके, ऐसी सुखवादी और उपभोग–उन्मुख संस्कृति वस्तुओं के अत्यधिक उत्पादन और आपूर्ति को प्रोत्साहित करती है, जो हानिकारक पारिस्थितिक परिणामों को जन्म देती है। व्यावहारिक स्तर पर गहन पारिस्थितिकी दर्शन के समर्थक ''जीवों को कम से कम नुकसान और पारिस्थितिक पहचान'' के सिद्धांत पर आधारित पारिस्थितिक रूप से अनुकूल जीवन शैली अपनाकर अपनी मान्यताओं को अमल में लाते हैं।

गहन पारिस्थितिकीविद् मैथ्यूज दुनिया को अपने स्वयं के उद्देश्यपूर्ण और संचार क्षमताओं से संपन्न विषय के रूप में देखते हैं।[34] उनका विचार है कि 'काव्यात्मक रहस्योद्घाटन के क्रम' के माध्यम से 'एक' के रूप में चित्रित दुनिया खुद को 'कई' के सामने प्रकट करती है। इस मानवीकरण के प्रकाश में दुनिया को केवल पारंपरिक वैज्ञानिक प्रतिमान के माध्यम से पहचानना और उससे संपर्क करना उचित नहीं है; इसके बजाय, इसे रहने देने के सिद्धांत के माध्यम से देखा जाना चाहिए।[35] यहाँ रहने देने का तात्पर्य दुनिया में हस्तक्षेप के 'सहक्रियात्मक तरीके' को अपनाना है, न कि सामान्य जोड़–तोड़ और साधनात्मक दृष्टिकोण को। दूसरे शब्दों में, मानवीय आवश्यकताओं को दुनिया द्वारा हमें बताए गए 'ऊर्जा प्रवाह के पैटर्न' के अनुरूप पूरा किया जाना चाहिए; हमें उन्हें अनदेखा करने और इस तरह पारिस्थितिक असंतुलन पैदा करने के बजाय उनके साथ तालमेल बैठाना चाहिए। उदाहरण के लिए, मैथ्यूज ने तर्क दिया कि पवन और सौर ऊर्जा (अक्षय संसाधन जिन्हें पारिस्थितिक संतुलन में न्यूनतम हस्तक्षेप की आवश्यकता होती है) पर स्विच करके, मानव समाज जीवाश्म ईंधन के निष्कर्षण और उपयोग के विनाशकारी प्रभाव को बढ़ाने के बजाय ग्रह की अखंडता को बनाए रखने में मदद करेगा।[36]

गहन पारिस्थितिकी के समर्थक इसे मानव–केंद्रितता के विकल्प या यहाँ तक कि इसके विपरीत मानते हैं जो प्रकृति के प्रति मानवीय दृष्टिकोण में आमूलचूल परिवर्तन की ओर ले जाता है। उथले पारिस्थितिकी के विपरीत गहन पारिस्थितिकी पहले से स्थापित सामाजिक संरचनाओं से काम करने के बजाय व्यक्तियों के बीच एक 'पारिस्थितिक चेतना' को बढ़ावा देकर एक सामाजिक परिवर्तन लाने का प्रयास करती है। नेस ने आत्म–साक्षात्कार का वर्णन करते हुए कहा कि यह ट्रांसपर्सनल मनोविज्ञान पर आधारित है, जो स्वयं से परे मानव अनुभव को आगे बढ़ाने के इर्द–गिर्द घूमता है।[37] नेस आत्म–साक्षात्कार को "सामुदायिक विज्ञान के बजाय सामुदायिक चिकित्सा का प्रश्न मानते हैंः सबसे व्यापक समुदाय, यानी सभी जीवित प्राणियों के साथ हमारे संबंधों को ठीक करना।"[38]

वस्तुतः आत्म साक्षात्कार जिसे पश्चिम में सेल्फ रियलाइजेशन के तौर पर देखा जाता हैं, वह प्रक्रिया और परिणाम की दृष्टि से सामूहिक है ही नहीं। अब तक के मानवजाति के इतिहास में ऐसा कभी नहीं हुआ कि पूरे के पूरे समूह ने ऐसा आत्म साक्षात्कार कर लिया हो, जिससे उसके समुदाचार का स्वरुप ही बदल गया हो। पर्यावरण प्रदूषण प्रक्रिया और परिणाम दोनों ही दृष्टियों से सामूहिक अतिचार का परिणाम है और इसके चलते इस त्रासद संकट से मुक्ति भी सामूहिक सदाचार से ही संभव है। इसके लिए आत्म साक्षात्कार का सुझाव सही है, किन्तु यह प्रक्रिया और परिणाम दोनों ही दृष्टियों से व्यक्तिगत होकर रह जाता है। इस नाते यह सुझाव न तो कारगर रूप ले पाया है और न ही ले पायेगा। अतः इस तर्क में थोड़ा गहरे उतरने की जरुरत है। दुनिया में जहाँ भी एकाकी व्यक्तियों ने आत्म साक्षात्कार किया, उसका उन्होंने प्रचार–प्रसार किया और आम लोगों को उससे परिचित कराया। ठीक इसी तरह पर्यावरण प्रदूषण के लिए जिम्मेवार आज जो सबसे बड़े संगठित इकाई हैं, उनके मालिक, मैनेजर और निर्देशक भी कम जिम्मेवार नहीं हैं। इस संवर्ग को सबसे पहले उस आत्म साक्षात्कार की आवश्यकता है जिसकी बात नेस कर रहे हैं और इस संवर्ग को ही उस चेतना का प्राथमिक संवाहक बनना होगा। क्या यह तार्किक रूप से संभव है। एक उदाहरण के माध्यम से इस बात को समझते हैं। एक बड़ा उद्योगपति पर्यावरण संरक्षण पर एक ऐसे हॉल में लेक्चर देता है जहाँ बीस ए.सी. लगे हुए हैं। वह उस सभा स्थल तक तीन करोड़ की गाड़ी से आता

है। उसकी सुरक्षा में लगे लोग तीस गाड़ियों में भरकर आये हैं। अपने भाषण में वह सादा जीवन और संयम की बात कहता है। अब प्रश्न यह है कि उसकी बातों का लोगों पर असर क्यों होगा या क्यों होना चाहिए। यही आज के समाज का यथार्थ है, जिसमें प्रकृति का संतुलन चाहते तो सब हैं, किन्तु इस संतुलन को बनाने में जिन चीजों से परहेज करना है, उसको लोग दूसरों के आचरण का विषय मान लेते हैं।

बॉसल मैन ने प्रकृति के साथ निकटता और पहचान का अनुभव करने के लिए तीन दृष्टिकोणों की पहचान की है। प्रथम, सहज दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण। सहज ज्ञान के माध्यम से मनुष्य अहंकार के चारों ओर की दीवारों को तोड़ सकता है और अपने आस–पास के लोगों और चीजों के साथ पहचान स्थापित कर सकता है। द्वितीय,सभी जीवित प्राणियों और प्राकृतिक दुनिया के प्रति प्रेम का विस्तार करके एक व्यक्ति प्रकृति के साथ एकता का अनुभव करता है। यह एकता और निकटता दार्शनिक दृष्टिकोणों और धार्मिक विश्वासों के माध्यम से प्राप्त की जा सकती है, जो चीजों के ऑन्टोलॉजिकल पहलू पर जोर देते हैं। तृतीय, प्रकृति के साथ आत्मीय–पहचान कुछ वैज्ञानिक सिद्धांतों, मुख्य रूप से गैया परिकल्पना और विकास के सिद्धांत द्वारा भी सुगम बनाई गई है, जो पारिस्थितिक और ऐतिहासिक प्रक्रियाओं पर जोर देती है। इस परिकल्पना में सभी जीवित प्राणी आपस में जुड़े हुए हैं। इस संबंध के बारे में जागरूकता मनुष्य को 'एक जीवित ग्रहीय प्राणी' के रूप में सम्पूर्ण पृथ्वी जो अपने आप में एक जीवित ग्रह है, उसके साथ आत्मीय पहचान बनाने की अनुमति देता है।[39]

फॉक्स ने पारिस्थितिकी का वर्णन करने के लिए 'गहन' शब्द के बजाय 'ट्रांसपर्सनल' शब्द चुना।[40] 'ट्रांसपर्सनल' को "स्वयं की भावना के रूप में परिभाषित किया जाता है, जो किसी के अहंकारी और व्यक्तिगत आत्म भावना से परे होती है। "ट्रांसपर्सनल मनोविज्ञान'' द्वारा प्रचारित आत्म–जागरूकता पारिस्थितिक मूल्यों के साथ मिलकर 'ट्रांसपर्सनल इकोलॉजी' उत्पन्न करती है। जैसा कि फॉक्स ने समझाया है कि "ट्रांसपर्सनलइकोलॉजी का ट्रांसपर्सनल मनोविज्ञान के "पारिस्थितिकी–करण" से उतना ही लेना–देना है जितना कि इकोफिलोसोफिकल मुद्दों पर पहुँचने के हमारे तरीकों का "मनोवैज्ञानीकरण" से।"[41]

गहन पारिस्थितिकी के विरोधियों ने अक्सर पर्यावरणीय दुर्दशा के प्रति इसके कट्टरपंथी और आदर्शवादी दृष्टिकोण के लिए इसकी आलोचना की है। गहन पारिस्थितिकीविदों का दृढ़ विश्वास है कि लोगों के मूल्यों और जीवन शैली में एक मौलिक परिवर्तन प्रकृति के प्रति मनुष्य के शोषणकारी रवैये को सुधारने में केंद्रीय महत्त्व रखते हैं। गहन पारिस्थितिकी के विरोधियों ने तर्क दिया है कि यह दृष्टिकोण 'राजनीतिक रूप से भोला' है और यह सरकारी संस्थानों और बड़े व्यवसायों की इस तरह के सामाजिक परिवर्तन को बाधित करने की क्षमता को नजरअंदाज करता है। सामाजिक पारिस्थितिकी के संस्थापक बुकचिन ने पर्यावरणीय संकट की सामाजिक जड़ों की अनदेखी करने और आध्यात्मिक और रहस्यमय सूत्रों पर ध्यान केंद्रित करने के लिए गहन पारिस्थितिकी की तीखी आलोचना की करते हैं। बुकचिन का सामाजिक पारिस्थितिकी का सिद्धांत मार्क्सवाद और अराजकतावाद से प्रेरणा लेता है, जो प्रकृति पर मनुष्य के वर्चस्व को मनुष्य द्वारा मनुष्य के वर्चस्व के प्रतिबिंब के रूप में देखता है।[42]

सामाजिक पारिस्थितिकीविद् स्थानीय समुदायों और नगर पालिकाओं जैसे स्थानीय स्वशासन के निकायों के सशक्तिकरण को पारिस्थितिकीय दुर्व्यवहारों के निवारण का सबसे अच्छा तरीका मानते हैं। यह कार्य राष्ट्र–राज्य द्वारा उपयुक्त नहीं, क्योंकि राष्ट्र–राज्य को एक कृत्रिम और अत्याचारी संस्था के रूप में माना जाता है। इस कारण वह मुख्य रूप से समाज में शक्तिशाली वर्गों के हितों को बढ़ावा देती है। सामाजिक पारिस्थितिकी पारिस्थितिकी संकट के समाधान के रूप में पदानुक्रम और वर्गों के पृथक्करण को प्रस्तुत करती है। यह 'पूरकता की नैतिकता' की भी मांग करता है, जो सामाजिक और प्राकृतिक के बीच संबंध पर जोर देती है। बुकचिन की राय में गहन पारिस्थितिकी की शिक्षाएँ उस ओर ले जाती हैं जिसे उन्होंने 'विघटन' कहा है, जिसका अर्थ है व्यक्ति का एक बड़े 'ब्रह्मांडीय स्व' में विघटन। यह अवैयक्तिकरण प्रकृति को उच्च स्तर पर रखकर और उसे देवता के रूप में पूजकर मानव को कमजोर करता है।[43]

गहन पारिस्थितिकी के साथ विवाद का एक अन्य मुद्दा इसके मानव विरोधी और मानवद्वेषी रुख से जुड़ा है। बुकचिन ने फोरमैन के इस कथन की निंदा की है कि हमें तीसरी दुनिया की आबादी की कीमत पर 'प्रकृति को अपना संतुलन बनाने देना चाहिए'। उदाहरण के लिए, भुखमरी

को जनसंख्या नियंत्रण पर सकारात्मक दीर्घकालिक प्रभावों के साथ एक प्राकृतिक प्रक्रिया के रूप में देखा जाना चाहिए। बुकचिन ने पारिस्थितिकी संकट के माल्थुसियन स्पष्टीकरण पर गहरी पारिस्थितिकीविदों की निर्भरता की भी आलोचना की है, जो भ्रामक और खतरनाक है। हालाँकि, कई गहन पारिस्थितिकीविदों ने फोरमैन और अन्यों द्वारा प्रस्तावित अतिवादी विचारों की निंदा की है। रामचन्द्र गुहा ने मानव–केंद्रितता और जैव–केंद्रितता के बीच गहन पारिस्थितिकी के अंतर को 'पर्यावरणीय समस्याओं की गतिशीलता को समझने' में अप्रभावी बताते हुए खारिज कर दिया और इसे पूर्वी धर्मों की पश्चिमी व्याख्या का उत्पाद माना है।[44] अपनी मान्यताओं को सार्वभौमिक बनाने के प्रयास में गहन पारिस्थितिकी के सिद्धांतों ने पूर्वी आध्यात्मिक परंपराओं की जटिलता और विविधता को स्वीकार करने के बजाय इन धर्मों को उनके मूल्यों में जैव–केंद्रितता के रूप में अंधाधुंध रूप से चित्रित किया है। गुहा ने पारिस्थितिकी या जैव–केंद्रितता की अवधारणा की इस आधार पर भी आलोचना की है कि यह मानव के हितों पर गैर–मानवीय हितों को प्राथमिकता देता है। उदाहरण के लिए, भारत में बाघ अभ्यारण्य रॉयल बंगाल बाघों की रक्षा के लिए 1973 में शुरू किए गए जो गरीब किसानों को उनके गांवों से उखाड़ फेंकने के लिए जिम्मेदार थे।[45]

गहन पारिस्थितिकी और इसी तरह की अवधारणाओं के अधिवक्ताओं ने अक्सर स्वदेशी और आदिवासी समुदायों की आध्यात्मिक विरासत की प्रशंसा यह तर्क देते हुए की है कि उनकी गतिविधियाँ पर्यावरण की दृष्टि से टिकाऊ थीं, खासकर शोषणकारी पश्चिमी संस्कृतियों की तुलना में। कुछ लोगों ने इस सामान्यीकरण का खंडन करते हुए कहा है कि इस तरह की मान्यताएँ 'भोली और गलत जानकारी वाली' हैं, जो हमें याद दिलाती हैं कि आदिम लोग प्राकृतिक घटनाओं और जीवों के प्रति श्रद्धा को भय और नियंत्रणकारी शक्ति की कमी के कारण व्यक्त कर सकते थे, न कि आंतरिक मूल्य की अवधारणा में विश्वास के कारण।[46]

इसके अलावा, रोनाल्ड नैश ने छिपे हुए धार्मिक और राजनीतिक एजेंडों के खिलाफ चेतावनी दी है, जो कि हरियाली और पशु अधिकार के हिमायती कार्यकर्ताओं की शिक्षाओं और दर्शन के पीछे छिपे हैं। जबकि ग्रीन्स निजी संपत्ति के अधिकारों पर हमला करते हैं, गहरे पारिस्थितिकीविद् और इसी तरह के चरमपंथी सर्वेश्वरवाद और समतावाद को बढ़ावा देकर

समाज में नए धर्मों को स्थापित करते हैं।[47] गहन पारिस्थितिकीविदों में प्रकृति–मानव–संबंध के बारे में कुछ प्राचीन मान्यताओं को अपनाने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। 'ग्रेट चेन ऑफ बीइंग' का समर्थन और आधुनिकतावाद के प्रति स्पष्ट शत्रुता इसी के संकेत हैं। हालाँकि, इसका मतलब यह नहीं है कि आधुनिक पर्यावरणवाद आवश्यक रूप से ऐसी पूर्व–आधुनिक अवधारणाओं में निहित है।[48]

5. होलिज्म और गिया (Gaia) प्राक्कल्पना

होलिज्म का तर्क है कि पहाड़ों, नदियों और चट्टानों जैसी निर्जीव प्राकृतिक विशेषताओं के प्रति सम्मान की तुलना मानव समाजों में संपत्ति के अधिकारों के प्रति सम्मान से की जा सकती है। कोई यह तर्क नहीं दे सकता कि किसी विशिष्ट समाज में मनुष्यों का सम्मान करना संभव है, जबकि उनके भौतिक सामानों जैसे घरों या कारों का अनादर या उन्हें खराब किया जाए। यही सिद्धांत उन पारिस्थितिकी तंत्रों पर भी लागू होता है, जो सभी प्रकार के जीवन को बनाए रखते हैं। सिस्टम में कोई भी नासमझी भरा बदलाव उस विशिष्ट पारिस्थितिकी तंत्र से संबंधित जीवों के जीवन और कल्याण को बाधित कर सकता है, इसलिए पूरे पारिस्थितिकी तंत्र को, न कि केवल उसमें रहने वाली प्रजातियों को, मूल्यगत महत्त्व दिया जाना चाहिए।[49] 'लियोपोल्डन दर्शन' जिसे 'भूमि नैतिकता' कहा जाता है, ब्रह्मांड के इस समग्र दृष्टिकोण का उदाहरण है। लियोपोल्ड के शब्दों में ''कोई चीज तब सही होती है जब वह जैविक समुदाय की अखंडता, स्थिरता और सुंदरता को बनाए रखने की कोशिश करती है। यह तब गलत होती है जब यह अन्यथा करती है।''[50] यह 'भूमि नैतिकता' 'पारिस्थितिक विवेक' की धारणा पर आधारित है, जो प्राकृतिक दुनिया के साथ एक नैतिक संबंध को बढ़ावा देती है।

इसी तरह, जेम्स लवलॉक (1919) द्वारा प्रस्तुत गिया परिकल्पना पृथ्वी को सम्मान और संरक्षण के योग्य 'सुपर जीव' के रूप में मानती है। गिया परिकल्पना एक वैज्ञानिक सिद्धांत के रूप में उत्पन्न हुई, लेकिन इसका प्रभाव विज्ञान से परे है। इस सिद्धांत से मोहित होकर गोल्ड स्मिथ जैसे कई पर्यावरणविदों ने सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धांतों के लिए प्रेरणा के स्रोत के रूप में गियन विज्ञान पर भरोसा किया है। गिया परिकल्पना का दावा है कि पृथ्वी खुद को विनियमित और नवीनीकृत कर

सकती है और अपने जैव–भौतिक प्रणालियों पर होने वाली विनाशकारी गतिविधियों से बच सकती है। हालाँकि, यह इस तथ्य का खंडन करता है कि पृथ्वी की पर्यावरणीय स्थिति पारिस्थितिक खतरों से निपटने के बजाय बिगड़ती जा रही है।[51]

6. धर्मों का धर्मसंकट और पारिस्थितिकीय अस्मिता

आज दुनिया के हर धर्मों की ओर से यह दावे किए जाते हैं कि उनकी मूल पुस्तकों और शिक्षाओं में पर्यावरण को सुरक्षित रखने के निर्देश हैं। वहीं उन्हीं मूल पुस्तकों की समीक्षा करते हुए यह भी स्थापित किया जाता है कि उनमें पर्यावरण विनाश के भी बीज मौजूद हैं। वस्तुतः इस प्रश्न को ऐसे देखा जाना चाहिए कि क्या कोई धर्म अतिशय उपभोग और एक दूसरे की कीमत पर सुख प्राप्त करने का निर्देश देता है या नहीं। वस्तुतः कोई भी धर्म एक दूसरे की कीमत पर सुख प्राप्ति का निर्देश देने से बचता है। ऐसे में धर्म की शिक्षाओं में पर्यावरण प्रदूषण के संकेत उतने नहीं हैं जितना कि कोई धर्म और उसके अनुयायी प्रदूषण फैलाने में लगे हुए हैं और इसमें कोई किसी से पीछे नहीं है। इस स्थिति को धर्मों का धर्म संकट कहा जाना चाहिए, जो मूलतः आधुनिकता के साथ धर्मों के समायोजन के क्रम में उत्पन्न स्थिति है। तथापि, कुछ पारिस्थितिकीविदों ने यहूदी–ईसाई धार्मिक सिद्धांतों और मान्यताओं को पारिस्थितिकी संकट के मूल कारणों को जन्म देने के लिए उत्तरदायी ठहराया है। वस्तुतः कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट दोनों को ही अन्य धर्मों की तुलना में सबसे अधिक मानव–केंद्रित धर्म के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[52] मानव–केंद्रितता एक ऐसा शब्द है जिसका उपयोग पर्यावरण नैतिकता के संदर्भ में प्रकृति के प्रति मानव–केंद्रित दृष्टिकोण को इंगित करने के लिए व्यापक रूप से किया जाता है। अमेरिकी विद्वान एडवर्ड पाईसन इवांस (1831–1971) ने व्यवस्थित रूप से मानव–केंद्रितता और ईसाई धर्म के बीच के संबंध को उजागर किया है। उन्होंने बौद्ध धर्म और सनातन धर्म जैसे समग्र धर्मों की तुलना में ईसाई धर्म के मानव–केंद्रित चरित्र की तीखी आलोचना की है।[53] पाईसन इवांस के लगभग सत्तर साल बाद 1967 में मेलियान व्हाइट ने एक प्रभावशाली लेख "हमारे पारिस्थितिक संकट की ऐतिहासिक जड़ें" में उसी आलोचना को दोहराया है। व्हाइट के अनुसार, हमारे आधुनिक पारिस्थितिक संकट की जड़ें कम से कम आंशिक रूप से यहूदी धर्म और ईसाई धर्म की शिक्षाओं में खोजी जा सकती हैं, जो

मनुष्य को प्रकृति का हिस्सा मानने के बजाय स्वामी के रूप में देखते हैं। व्हाइट ने उत्पत्ति (बाइबिल में जेनेशिस नामक अध्याय) पर अपना तर्क रखते हुए जो पुराने नियम का एक विवादास्पद संदेश है, जिसे अक्सर प्रकृति पर शासन करने के लिए मानव जाति के अधिकार के रूप में व्याख्यायित किया जाता है, का उल्लेख किया है। जहाँ कहा गया है कि ''और परमेश्वर ने कहा कि हमने मनुष्य को अपनी छवि में, अपनी समानता में बनाया है और उन्हें समुद्र की मछलियों, आकाश के पक्षियों, मवेशियों, सारी पृथ्वी पर और पृथ्वी पर रेंगने वाले हर जीव पर प्रभुत्व दिया है'' ।

व्हाइट की राय में अन्य प्राणियों पर प्रभुत्व और श्रेष्ठता का यह विचार बाइबिल के इस कथन से उपजा है कि मनुष्य ईश्वर की समानता में बनाया गया है। इस प्रकार, उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि यह धर्मग्रंथ कथन यहूदी–ईसाई विश्वास के मूल में है कि ईश्वर ने पृथ्वी और इसकी खूबियों को मानव संतुष्टि के लिए बनाया है और इसी में मनुष्य द्वारा प्रकृति के दोहन का विचार समाहित है। हालाँकि, व्हाइट ने ईसाई धर्मशास्त्र में प्रकृति के प्रति क्रांतिकारी दृष्टिकोण के रूप में सेंट फ्रांसिस ऑफ असीसी के सिद्धांत को चुना, जो सृष्टि पर मनुष्यों की असीम शक्ति का एक अत्यधिक आलोचनात्मक दृष्टिकोण है। उन्होंने असीसी को पारिस्थितिकीय विद्वानों एवं कार्यकर्ताओं के लिए संरक्षक संत माना, क्योंकि असीसी ने गैर–मानव जीवित प्राणियों का सम्मान किया है और उन्हें मानव जाति के बराबर का दर्जा दिया है। असीसी ने ईश्वर को मूल जनक या निर्माता मानते हुए और सभी जीवित प्राणियों को उन्हीं का संतान मानते हुए सभी को आपस में भाई–बहन के रूप में संदर्भित किया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि ईसाई मत की व्याख्या पर्यावरण के सन्दर्भ में दो तरह से की जा सकती है, जिसमें एक ओर ईसाई मत को पर्यावरण के दोहन एवं विनाश के लिए दोषी माना जा सकता है तो वहीं दूसरी ओर ईसाई मत में पर्यावरण संरक्षण के विकल्प भी खोजे जा सकते हैं। किन्तु जब ईसाई मत की तुलना अन्य धर्मों से की जाती है तब पहला पक्ष अधिक मुखर हो जाता है।

उदाहरण के लिए व्हाइट ने तर्क दिया कि मूर्तिपूजावाद के विपरीत ईसाई धर्मशास्त्र ने प्रकृति के घटकों और घटनाओं की पवित्रता और उसकी आध्यात्मिकता को बहुत हद तक कम कर दिया। लोगों को इस एनिमिस्ट विचार और विश्वास से मुक्त करके कि प्रकृति के तत्त्वों में आत्माएँ निवास

करती हैं, ईसाई धर्म ने विज्ञान और प्रौद्योगिकी के लिए पुराने धर्मों के नैतिक प्रतिबंधों के बिना ही प्रकृति का दोहन करने का मार्ग प्रशस्त किया।[54] कुछ लेखक ईसाई धर्म की आलोचना में इससे भी आगे गए हैं। उन्होंने चर्च को एक ऐसी संस्था के रूप में दर्शाया है जो भूमि अधिग्रहण के माध्यम से प्रकृति की पवित्रता को नष्ट कर देती है और इस तरह प्रकृति को वस्तुओं में बदल देती है।[55] हालाँकि, ईसाई धर्मशास्त्र की विविधतापूर्ण और जटिल व्याखाएँ उपलब्ध हैं और उसमें प्रकृति के संरक्षण और दोहन दोनों के लिए सीमाओं तक जाने वाली व्याख्यायों की गुंजाईश है।[56]

स्टीवर्डशिप (परिचारक्त्व)[57] की अवधारणा के समर्थक व्हाइट के मत की तुलना में बाइबिल में जेनेशिस की एक बेहतर व्याख्या का दावा करते हैं और वे मनुष्य और प्रकृति के बीच सामंजस्य की दिशा में एक कदम आगे ले जाने में इसाई मत की सराहना करते हैं। शेफर जैसे धर्मशास्त्री ने व्हाइट द्वारा ईसाई धर्म को पर्यावरण विरोधी के रूप में वर्णित करने से इनकार करते हुए यह तर्क दिया है कि प्रकृति पर मानव प्रभुत्व सकारात्मक होना चाहिए, विनाशकारी नहीं। फिर पर्यावरण से मनुष्य का विलगाव कैसे हुआ, इस प्रश्न के उत्तर में स्टीवर्डशिप (परिचारक्त्व) के समर्थकों का मानना है कि यह मूल पाप था जो मनुष्य के पतन के साथ दुनिया में आया और जिसने मानव को प्रकृति से अलग कर दिया।[58] इसलिए, मनुष्य के पास प्रकृति के प्रति नैतिक दायित्व है, क्योंकि प्रकृति मानव जाति के लिए ईश्वर का उपहार है। संरक्षकता की दृष्टि का तात्पर्य है कि ईश्वर ने मनुष्यों को गैर–मानव दुनिया की देखभाल करने के लिए नामित किया है।[59] इसी तरह, डेविट ने कहा कि बाइबिल पर्यावरण के अनुकूल शिक्षाओं से भरपूर है और वास्तविक समस्या सिद्धांत के कार्यान्वयन में है, न कि सिद्धांत में। डेविट प्राकृतिक दुनिया को बचाने के लिए पारिस्थितिकीविदों और चर्चों के बीच फलदायी सहयोग का आह्वान करते हैं।[60]

कुछ लेखकों ने व्हाइट की स्थापनाओं की इस आधार पर आलोचना किया है कि प्रकृति के प्रति मानव–केंद्रित रवैया ईसाई धर्म से पहले का है। ऐसे विचारकों ने प्राचीन ग्रीक और रोमन दर्शन के मानव–केंद्रित अभिविन्यास की अनदेखी करने के लिए व्हाइट की आलोचना की है, जो मानव की अनन्य नैतिक स्थिति पर आधारित थे और इस बात पर जोर दिया कि ईसाई धर्म को एकमात्र ऐसे धर्म के रूप में नहीं चुना जा सकता है जो प्रकृति के प्रति शोषणकारी दृष्टिकोण को अपनाता है।[61]

वस्तुतः अन्य धार्मिक शिक्षाएँ भी जिनमें बड़े पैमाने पर किसी आस्था सूचक आयोजन की अनुमति हो वह किसी न किसी रूप में पर्यावरण प्रदूषण को जन्म नहीं देगा, यह मान लेना तार्किक नहीं लगता है। हम पाते हैं कि एक निश्चित सीमा तक अधिकांश प्राचीन सभ्यताओं और समुदायों ने अपने प्राकृतिक परिवेश को बदल लिया था। संस्कृति के इतिहासकार और कैथोलिक पादरी बेरी के अनुसार प्रकृति के प्रति चीनियों का सहयोगी दृष्टिकोण भी चीनी लोगों को अपने अधिकांश प्राचीन जंगलों को मिटाने से नहीं रोक पाया था।[62] इस तथ्य को हम टॉमलिन की तर्क पद्धति से भी समझ सकते हैं।[63] उन्होंने प्रकृति के प्रति दो धार्मिक दृष्टिकोणों के बीच एक उपयोगी अंतर किया है, पहला प्रकृति धर्म और धार्मिक पर्यावरणवाद।[64] प्रकृति धर्म से टॉमलिन ने प्रकृति के कुछ तत्त्वों की पारंपरिक धार्मिक पूजा का उल्लेख किया। प्रकृति की पूजा, जिसका पालन कई पूर्वी धर्मों द्वारा किया जाता है। यह श्रद्धा पर्यावरण संरक्षण के लिए नैतिक चिंता के बजाय देवी–देवताओं के साथ विशिष्ट प्राकृतिक तत्त्वों के जुड़ाव से उत्पन्न होती है।[65] भारतीय संदर्भ में टॉमलिन ने बताया कि हिंदुओं द्वारा पवित्र वृक्षों, उपवनों और नदियों की पूजा जरूरी नहीं कि प्रकृति के आंतरिक मूल्य के प्रति जागरूकता से उत्पन्न हो, बल्कि हिंदू देवताओं से उनके संबंध के कारण वे पेड़ों की कुछ प्रजातियों का सम्मान और आदर करते रहे हैं । टॉमलिन आगे यह भी कहते हैं कि यह असंभव है कि ऐसी आध्यात्मिक प्रथाएँ हिंदुओं की पूजा जनित आस्था को जंगलों या पूरी प्रकृति तक बढ़ा दे।[66] इस तर्क का निहितार्थ यह है कि यदि हम तुलसी और पीपल की पूजा करते हैं तो यह जरुरी नहीं है कि हम दुसरे वृक्षों को नहीं काटेंगें। दूसरी ओर, धार्मिक पर्यावरणवाद एक समकालीन पर्यावरणीय प्रवृत्ति है, जो मानव जाति के द्वारा बड़े पैमाने पर प्राकृतिक पर्यावरण का दोहन करने की बढ़ती क्षमता की प्रतिक्रिया के रूप में उभरी है, जिससे वैश्विक पर्यावरणीय समस्याएँ पैदा हो रही हैं।[67] धार्मिक पर्यावरणविद् पर्यावरणीय सक्रियता को गहन आध्यात्मिक आधारों पर स्थापित करने के प्रयास में गैर–पश्चिमी धार्मिक और सांस्कृतिक परंपराओं का सहारा लेते हैं। हालाँकि, पूर्वी धर्मों को पर्यावरण के अनुकूल मानने की प्रवृत्ति वास्तव में इन धर्मों की मूल शिक्षाओं को पूरी तरह से प्रतिबिंबित नहीं करती है। आस्था के आधार पर हम टॉमलिन के तर्कों का विरोध कर सकते हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह

नहीं कि उसके विचार सारहीन हैं। उदहारण के लिए हम हिमालय की शृखलाओं को शिव की जटा सदृश मानते हैं और उनकी पूजा करते हैं, किन्तु हमारा यह भाव हमें उन जटाओं को ध्वस्त करके उन पर सड़क बनाने से हमें रोक नहीं पा रहा है। भारत वर्ष में तो ऐसे भी उदाहरण देखे जा सकते हैं, जहाँ विकास कार्य के लिए वन की कटाई से पूर्व वन देवी की पूजा कर ली गई हो। ऐसा ही प्रायः अन्य धर्मों के अनुयायी भी कर रहे होते हैं। समग्र रूप से देखा जाए तो पर्यावरण प्रदूषण के लिए कोई भी धर्म आत्यंतिक रूप से उत्तरदायी नहीं है, अपितु आधुनिकता ने धर्मों के समक्ष जो धर्म संकट पैदा कर दिया है वह पर्यावरण प्रदूषण के लिए अधिक जबाबदेह कारक है।

कुछ लोग पारिस्थितिक आंदोलनों पर पूर्वी धर्मों और नए बुतपरस्ती के प्रभाव को मुख्यधारा के ईसाई धर्म की पर्यावरण के अनुकूल समाज के लिए एक धार्मिक आधार प्रदान करने में असमर्थता के संकेत के रूप में भी देख सकते हैं।[68] साथ ही यह भी यह तर्क दिया जा सकता है कि पर्यावरण आंदोलन की विश्वसनीयता से समझौता तब होता है जब यह पर्यावरण से संबंधित सामाजिक व्यवहार में बदलाव की तलाश में जान बूझकर धार्मिक और आध्यात्मिक मान्यताओं का सहारा लेता है। उदाहरण के लिए, 'माँ–पृथ्वी' के रूपक के माध्यम से पारिस्थितिकी– नारीवादियों ने तर्क दिया है कि प्रकृति और स्त्री के बीच संबंध का उपयोग महिलाओं और प्रकृति दोनों के प्रति पितृसत्तात्मक, शोषणकारी और दबंग रवैये को सही ठहराने के लिए किया गया है।[69] पारिस्थितिकी– अराजकतावादी बुकचिन ने हरित आध्यात्मिकता को 'अस्थिर' और कठिन राजनीतिक लड़ाइयों में इस्तेमाल किए जाने के लिए पर्याप्त ठोस नहीं माना है। उनकी राय में पारिस्थितिकी तबाही की जड़ें 'पूँजीवाद और समाज के पदानुक्रम' में निहित हैं और इस तरह के गहरे प्रतिमानों से लड़ने के लिए एक महान प्रयास की आवश्यकता है। इस प्रकार, बुकचिन ने अपने सामाजिक पारिस्थितिकी को मानव–प्रकृति संबंधों के आध्यात्मिकीकरण के बजाय पर्यावरणीय सामाजिकी के विचार को एक तर्कसंगत विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया।[70]

किन्तु, क्या ऐसा कोई भी सामाजिक विकल्प जिसमें उसका धर्म के साथ द्वैत हो और ऐसा कोई धार्मिक विकल्प जिसका समाज से द्वैत हो, वह पर्यावरण असंतुलन की उस समस्या को हल कर सकता है जो स्वयं

इसी तरह के द्वैत की उपज है। निश्चय ही इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर संभव नहीं है। वस्तुतः यदि किसी भी धर्म को कुछ हद तक पर्यावरणीय असंतुलन के लिए जिम्मेदार मान भी लिया जाए तो उसकी एक सीमा है। पर्यावरण प्रदूषण को कौन सा धर्म अधिक प्रोत्साहित करेगा, यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह आधुनिकता के साथ कितना समायोजन बैठा पाता है। किन्तु, यह वैचारिक रूप से समझ लेना इतना सहज भी नहीं है। ऐसा इसलिए कि आधुनिकता एक पैकेज की तरह है, जिसमें उसके घटक तत्त्व एकबारगी से नहीं आ गए हैं, बल्कि धीरे–धीरे आये हैं और आज भी आते जा रहे हैं। आधुनिकता के पैकेज में ज्ञान की दृष्टि से जो शुरूआती दौर का तत्त्व है वह अनुभववाद और विज्ञानवाद की जोड़ी है। अर्थात्, इहलौकिकता को प्रश्रय देने का विचार। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जो धर्म अपने को जितना अधिक वैज्ञानिक और लौकिक अनुभवसिद्ध बताने का प्रयास करेगा वह अपने को उतना ही अधिक वैज्ञानिक भी सिद्ध कर पायेगा। अब आज के समय में यह प्रश्न प्रासंगिक नहीं है कि इस कार्य में कौन सा धर्म अपने को सबसे उपयुक्त सिद्ध कर पाया है, बल्कि महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि वह कौन सा धर्म है जो अपने को इस दौड़ से अलग रखना चाहता है। कदाचित् कोई भी नहीं। इसीलिए पर्यावरणीय असंतुलन को समझने के लिए अन्य धर्म जनित प्रेरकता को अन्य कारकों के साथ समझने की भी आवश्यकता है। अन्यथा, धर्म को ही यदि पारिस्थितिक संकट को जन्म देने वाला कारक मान लिया जाए तो फिर जिस सभ्यता में 'ईशावास्यमिदंसर्वं यत्किंचित् जगत्यां जगत्, तेनत्यक्तेन भुंजीथा मागृधःकस्य–स्विद्धनम्'[71] का उद्घोष किया गया हो वहाँ फिर पर्यावरण प्रदूषण कैसे हो रहा है और इस प्रश्न का तार्किक समाहार कैसे किया जा सकता है। अथवा, माता भूमिः पुत्रोऽहंपृथिव्याः पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु, यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्याम। यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्मणः।।[72] – जिस सभ्यता में पृथ्वी को माता माना गया हो और निवासियों को उसका पुत्र वहाँ हो रहे पर्यावरण विनाश को हम कैसे समझ सकते हैं। वस्तुतः यदि हम बारीकी से विचार करें तो दुनिया के प्राचीन धर्म और उनकी मान्यताएँ दार्शनिकीकृत किये जाने के पहले से चली आ रही मान्यताओं को भी समेकित किये हुए रहते हैं। अर्थात् स्थायी जीवन एवं स्थायी कृषि से पहले की वह मान्यताएँ जिनमें अदृश्य से जुड़ाव और ऐसी श्रद्धा का भाव होता है

और जिसमें यह अपेक्षा होती है कि वह अदृश्य हमारे लिए कल्याणकारी और वरदायी हो। इस संबध में मनुष्य का प्रकृति से जो संबंध है वह आश्रितता का संबंध है। इसमें मनुष्य प्रकृति पर आश्रित है। कृषि के विकास के साथ–आश्रितता का यह संबंध इस तरह से बदलने लगता है जिसमें आश्रितता में स्वतंत्रता का लेशमात्र समावेश हो जाता है जो तकनीक और ज्ञान के विकास के साथ–साथ बढ़ता चला जाता है। किन्तु, प्रकृति के प्रति पूर्ण रूप से आश्रितता वाले युग से निकलकर प्रकृति के साथ सापेक्षिक स्वतंत्रता के युग में आ जाने पर मनुष्य की भौतिक परिलब्धियों और उसकी क्षमता को धर्म द्वारा निर्देशित करने का क्या कोई ऐसा मार्ग मिलता है जो उक्त दोनों काल की परिस्थितिगत भिन्नता को देखते हुए निर्देशित करता हो। यह एक यक्ष प्रश्न है और इसका यदि कोई उत्तर संभव भी है तो वह धर्म की ओर से समय को अखंड ईकाई मानकर दिया गया उत्तर ही हो सकता है और तार्किक रूप से इसी में धर्म की शाश्वतता का बचाव भी है। किन्तु, इसके लिए जरुरी यह था कि धर्म ने मनुष्य को एक शाश्वतीबोध से विचलित नहीं होने दिया हो। किन्तु पर्यावरण विनाश के लिए उत्तरदायी मनुष्य ने इतिहास में अपने को जो सिद्ध किया वह है मनुष्य का शरीरी होना जो अपने देह रूप में शाश्वत समय के किसी काल खंड में अस्तित्ववान है। भले ही आत्मा के संदर्भ में उस शाश्वत समय का अस्तित्व हो, किन्तु ध्यातव्य है कि पर्यावरण प्रदूषण का संबंध देहधारी मनुष्य से है जो शरीर की जरूरतों के कारण उपभोक्ता भी है। यद्यपि प्रत्येक धर्म ने मनुष्य के देह संदर्भित जरूरतों को सीमाबद्ध करने का मार्ग सुझाया है और उनकी महत्ता भी है, किन्तु सामूहिक व्यवहार में और पर्यावरण के सन्दर्भ में खासकर ''प्रिजनर्स डायलेमा'' जैसी स्थिति में वे चूकते से प्रतीत होते हैं। इसी कारण पर्यावरण प्रदूषण के अन्य घटकों और पर्यावरण संरक्षण के अन्य पहलुओं पर भी विचार किया जाना अपेक्षित है।

7. कृषि क्रांति, भविष्यगत संचय की प्रवृति और पर्यावरण प्रदूषण

बिना किसी संकोच के तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कृषि उद्भव के पूर्व मानव जाति ने पर्यावरण प्रदूषण का जोखिम नहीं लिया था। मानव इतिहास के अधिकांश भाग में, कृषि के उद्भव तक, शिकार करना और भोजन इकट्ठा करना जीवन निर्वाह के मुख्य तरीके थे। कृषि को पारंपरिक रूप से मानव उन्नति और प्रगति का सूचक माना जाता

रहा है। कुछ पुरातात्विक अध्ययनों से पता चला है कि खेती की तकनीकों में बदलाव ने प्रकृति के साथ मनुष्य के संबंधों को बदलने में महत्त्वपूर्ण मानव प्रभाव का पहला संकेतक था।[73] वस्तुतः कृषि तकनीकों में बदलाव वह पहला बड़ा पड़ाव है जहाँ से मानव ने सामूहिक और सम्मिलित रूप से अपनी पुरानी पर्यावरणीय चेतना से अलग जाकर नई राह पकड़ी। इस संबंध में डायमंड ने यहाँ तक कहा है कि मनुष्य अभी भी हमारे पूर्वजों द्वारा कृषि का पक्ष लेने और जीवन शैली के रूप में भोजन की तलाश को छोड़ने के नासमझी भरे फैसले के भयानक परिणामों से निपट रहे हैं।[74]

प्राचीन सभ्यताओं से शुरू हुई खाद्य आपूर्ति की खोज ने पृथ्वी को एक तरह से थका दिया और उसे दरिद्र बना दिया तथा इसने क्षेत्रीय विजय और व्यापार के लिए द्वार खोल दिए। उदाहरण के लिए, चीन में बड़े पैमाने पर वनों की कटाई शरू हुई, क्योंकि तेजी से बढ़ती आबादी की जरूरतों को पूरा करने के लिए अधिक भोजन की आवश्यकता थी। आधुनिक इतिहास में पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं के उदय और यूरोपीय देशों के बीच प्रतिस्पर्धा से प्रेरित यूरोपीय उपनिवेशवाद ने गैर–यूरोपीय भूमि पर गंभीर पारिस्थितिक क्षरण को जन्म दिया।[75] 1930 के दशक के मध्य का डस्ट बाउल ने प्रकृति की सीमाओं और उसके विदोहन के हानिकारक दुष्प्रभावों को तो प्रकट किया ही इसने मानव लालच का सामना करने में प्रकृति की अक्षमता और प्रकृति के प्रकोप से निपटने में मानवजाति की विफलता को सतह पर लाकर खड़ा कर दिया। 1934 और 1937 के बीच 200 से अधिक धूल के तूफानों ने ग्रेट प्लेन्स को ढकने वाली मिट्टी को उड़ा दिया, जिससे फसलों और चारागाहों का विनाश हुआ और गेहूं के उत्पादन में कमी आई। इस पारिस्थितिकी संकट का कारण एकल कृषि और देशी वनस्पतियों के विनाश जैसी नासमझ कृषि पद्धतियाँ थीं।[76]

बाद के चरण में कृषि कार्य हेतु सिंचाई की आवश्यकता ने जल स्रोतों का विदोहन आरम्भ किया और जैसे–जैसे भू–गर्भ जल तक मानव की तकनीकी पहुँच बढ़ती चली गई वैसे–वैसे भू–गर्भ जल स्रोत भी अवशोषण के ऐसे कुचक्र में फंस गए कि आज पीने योग्य पानी की कमी की समस्या विकराल रूप धारण करते जा रही है। यह तो कृषि हेतु सिंचाई के लिए भू–गर्भ जल स्रोतों के दोहन से उत्पन्न समस्या है, किन्तु नदियों पर बाँध बनाकर नहर प्रणाली से सिंचाई ने इससे भी बड़ी समस्या उत्पन्न की है।

उस समस्या को समझने के लिए यह जानना जरूरी है कि महासागरों में नदियों का बीस से तीस प्रतिशत स्वच्छ जल पहुँचना आवश्यक है। अन्यथा उनके क्षारीयपन में वृद्धि होगी और वे नमक के रेगिस्तान में तब्दील हो जायेंगे। कृषि के लिए नदियों के जल की विपुल मात्रा में प्रयोग ने महासागरों और नदियों के उस प्राकृतिक रिश्ते और संतुलन को जोखिम में डाल दिया है जिस रिश्ते में वे एक दूसरे के पूरक थे। कृषि में बढ़ते उर्वरकों के प्रयोग ने भूमि की उत्पादकता को भी संकट में डाल दिया है और उर्वरकों तथा कीटनाशकों के बेतहाशा प्रयोग ने वनस्पति जगत् के संतुलन को भी संकट में डाल दिया है। पिछले तीन सौ साल में जितनी वनस्पतियाँ और जीव विलुप्त हुए हैं उतने उसके पहले तीन हजार साल में भी नहीं हुए थे। प्रारम्भ में कृषि विकास ने मनुष्य को भविष्य के लिए अन्न भंडारण की चुनौती भी दी जिसका मानवजाति ने तकनीकी विकास के साथ–साथ समाधान भी कर लिया। किन्तु भविष्य के लिए भंडारण की बढ़ती हुई क्षमता ने मनुष्य को पहले की अपेक्षा अधिक भंडारण और भंडारित वस्तुओं के विपणन के लिए बाजार की खोज के लिए भी प्रेरित किया और मुद्रा की वैधानिकता के प्रसार क्षेत्र में वृद्धि के साथ–साथ बाजार का भी विस्तार होता चला गया। इस तरह अब मनुष्य कृषि, कृषि उत्पादों के भंडारण और भंडारित वस्तुओं के विपणन में मुद्रा के प्रयोग हेतु अभ्यस्त हुआ। इन सबने मिलकर मनुष्य को एक प्राणी के रूप में दुसरे अन्य प्राणियों से एक ऐसे अर्थ में भिन्न बना दिया जो प्रायः उसके मूल अस्तित्व और प्रकृति से उसके मूल संबंध में नहीं था। वह परिवर्तन यह था कि अब मनुष्य कृषि, कृषि उत्पादों के भंडारण और भंडारित वस्तुओं के विपणन में मुद्रा के प्रयोग का अभ्यस्त होकर अपने भविष्य को कंज्यूम कर जाने की क्षमता अर्जित कर लिया था। यहाँ अवांतर रूप से ध्यातव्य है कि विश्लेषण की एक कैटेगरी के तौर पर हम देखें तो आज जो समाज सबसे अधिक विकसित है उसने उतने दूर तक अपने भविष्य को कंज्यूम कर लिया है अथवा इसकी क्षमता रखता है और प्राकारांतर रूप से जो इसमें जितना अधिक सक्षम है, वह पर्यावरण को उतना ही अधिक नुकसान भी पहुँचा रहा है। मनुष्य की इस क्षमता को जन्म देने में कृषि की खोज तो फिर भी पहली सीढ़ी थी, परन्तु वैज्ञानिक क्रांति और औद्योगीकरण ने इसमें बेतहाशा वृद्धि की।

8. वैज्ञानिक क्रांति, औद्योगीकरण और पर्यावरण प्रदूषण

इस मुद्दे पर विचार करने से पूर्व यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि विज्ञान, तकनीक एवं इनका हालिया अनुप्रयोग जो दावे कर रहे हैं और वास्तव में जो परिणाम उत्पन्न हो रहा है, उसके बीच संगति नहीं है। फिर भी विज्ञान,तकनीक एवं इनका हालिया अनुप्रयोग को लेकर लोगों में एक संभ्रम की स्थिति है और लोग यह मान ले रहे हैं कि दूसरा कोई इससे बेहतर विकल्प हो ही नहीं सकता है। यहाँ हम एक ज्वलंत उदहारण के माध्यम से इस स्थिति को समझ सकते हैं। जब इंटरनेट और वर्चुवलाइजेशन की शुरुआत हुई थी तब तर्क दिया गया था कि इससे कागज की खपत एवं परिवहन जन्य प्रदूषण कम कम होगी और हम पर्यावरण की रक्षा कर पाएंगे। किंतु लगभग चार दशक बाद हम यह देख सकते हैं कि यह झूठा दावा था। जैसे – जैसे हम संचार की तकनीक में डूबते जा रहे हैं वैसे वैसे हम पानी की घनघोर संकट की ओर भी बढ़ते जा रहे हैं। इसका चरम रूप यह हो सकता है कि जितना पानी मनुष्यों को चाहिए उतना ही इस वर्चुअल दुनिया को संचालित करने वाले यंत्रों के द्वारा भी विविध रूपों में खपत कर लिया जा सकता है। कुछ हालिया आंकड़े यहाँ प्रस्तुत हैं जो पूरे नहीं हैं फिर भी समस्या की गंभीरता को बताने के लिए पर्याप्त हैं। इंटरनेट और आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस सिस्टम द्वारा पानी की खपत एक बढ़ती हुई चिंता का विषय है, खासकर डेटा सेंटरों के कारण। अब प्रश्न यह है कि यहाँ पानी की खपत क्यों होती है? इंटरनेट और आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस सिस्टम को चलाने के लिए बड़े–बड़े डेटा सेंटरों की आवश्यकता होती है। ये डेटा सेंटर लाखों सर्वरों और अन्य हार्डवेयर को होस्ट करते हैं जो लगातार काम करते रहते हैं। इस भारी कंप्यूटिंग शक्ति के कारण अत्यधिक गर्मी उत्पन्न होती है। इस गर्मी को नियंत्रित करने और सर्वरों को ठीक से काम करने के लिए उन्हें ठंडा रखना बहुत जरूरी होता है। इसी कूलिंग प्रक्रिया में पानी का बड़ी मात्रा में उपयोग होता है। पानी को कूलिंग टावरों या अन्य कूलिंग तकनीकों के माध्यम से प्रसारित किया जाता है ताकि सर्वर से निकलने वाली गर्मी को अवशोषित किया जा सके और उसे बाहर निकाला जा सके। कुछ डेटा सेंटर आर्द्रता को नियंत्रित करने के लिए भी पानी का उपयोग करते हैं। डेटा सेंटरों को चलाने के लिए भारी मात्रा में बिजली की आवश्यकता होती है। इस बिजली का एक बड़ा हिस्सा

थर्मल पॉवर प्लांट्स द्वारा उत्पन्न होता है, जो बिजली बनाने की प्रक्रिया में भी बड़ी मात्रा में पानी का इस्तेमाल करते हैं। इस तरह, आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस और इंटरनेट का उपयोग अप्रत्यक्ष रूप से भी पानी की खपत को बढ़ाता है। कुछ डेटा सेंटर आग बुझाने के लिए पानी आधारित प्रणालियों का उपयोग करते हैं। उपकरणों की सफाई और दक्षता बनाए रखने के लिए भी नियमित रूप से पानी की धुलाई और रख–रखाव आवश्यक होता है। इनके द्वारा पानी की खपत के कुछ आँकड़े और उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं।

बड़े आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस मॉडल, जैसे कि OpenAI का GPT–3, को प्रशिक्षित करने में भारी मात्रा में पानी खर्च होता है। एक रिपोर्ट के अनुसार, GPT–3 को प्रशिक्षित करने में 7 लाख लीटर से अधिक पानी खर्च हो सकता है। यह उतना पानी है जितने में 70 BMW कारें तैयार हो जाएँ, या इतने ही पानी से एक न्यूक्लियर रिएक्टर को ठंडा किया जा सकता है। चौटबॉट का उपयोग : हर 20 से 50 सवालों के बीच चौटबॉट को 500 मिली लीटर पानी की जरूरत होती है। माइक्रोसॉफ्ट और गूगल : इकोनॉमिक टाइम्स में छपी एक खबर के मुताबिक, माइक्रोसॉफ्ट की 2022 की रिपोर्ट में बताया गया है कि डेटा सेंटर को ठंडा रखने के लिए उनकी पानी की खपत पिछले साल के मुकाबले बढ़ गई है। 2021 में 4.7 मिलियन क्यूबिक मीटर पानी की खपत हुई थी, जो 2022 में 34% बढ़कर 6.4 मिलियन क्यूबिक मीटर हो गई। वर्जिनिया का ''डेटा सेंटर गली'' : ब्रिटिश ''फाइनेंशियल टाइम्स'' द्वारा प्राप्त रिकॉर्ड के अनुसार, 2019 के बाद से वर्जीनिया के ''डेटा सेंटर गली'' की IT बुनियादी ढाँचे की पानी की खपत में लगभग दो तिहाई की वृद्धि हुई है। 2023 में, इस क्षेत्र के IT बुनियादी ढाँचे की पानी की खपत 7 अरब लीटर को पार कर गई, जो 2019 की तुलना में लगभग 64% की भारी वृद्धि है। यह डेटा सेंटर बड़े पैमाने पर सर्वर को समेटे हुए है, जो वैश्विक इंटरनेट ट्रैफिक का 70% संभालता है। आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस तकनीक के तेजी से विकास के साथ–साथ, डेटा सेंटरों का विस्तार भी तेजी से हो रहा है, जिससे पानी की कुल खपत में वृद्धि होती है। विशेषज्ञ इस बात को लेकर चिंता जता रहे हैं कि अगर आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस की ग्रोथ ऐसे ही तेजी से बढ़ती रही, तो आने वाले समय में पानी की किल्लत और भी बढ़ सकती है, खासकर उन इलाकों में जहाँ पहले से ही जल संकट है और अंत में यह एक सार्वजनीन समस्या बन जाएगी।[77]

यह एक स्पष्ट तथ्य है कि आधुनिक वैज्ञानिक क्रांति, औद्योगीकरण और इन दोनों के परिणाम से उत्पन्न शहरीकरण ने पिछले तीन सौ साल में पर्यावरण को जितना प्रदूषित किया है उतना मानवजाति ने अपने सम्पूर्ण अस्तित्वगत काल में प्रदूषण नहीं फैलाया था। जिसे हम आज वैज्ञानिक क्रांति कहते हैं उसकी शुरुआत 16वीं और 17वीं शताब्दी में कोपरनिकस के सफल सूर्यकेंद्रित सिद्धांत से हुई, जो ब्रह्मांड में सूर्य की केंद्रीयता पर आधारित थी, इसने उस पुरानी मान्यता को खारिज किया जिसके अनुसार पृथ्वी ब्रह्मांड का केंद्र है। देकार्त, बेकन और न्यूटन ने दुनिया की अवधारणा के नए तरीकों को अपनाकर विज्ञान के क्षेत्र में क्रांति ला दी। देकार्त और बेकन के सिद्धांतों ने समाज और प्रकृति के बीच एकता के विघटन में योगदान दिया जिसे पूर्व–आधुनिक ब्रह्मांड विज्ञान द्वारा कल्पित किया गया था। इन वैज्ञानिक खोजों ने ज्ञान प्राप्त करने में तर्क की भूमिका पर जोर देकर न्यूटानियन विज्ञान की मान्यता को आगे बढ़ाया और ज्ञान के स्रोतों के रूप में बाइबिल तथा अन्य धर्मशास्त्रों के झूठे विज्ञान पर निर्भरता को खत्म करने में मदद की। वैज्ञानिक क्रांति के साथ प्रकृति का मशीनीकरण और गणितीकरण हुआ, जिसने मध्ययुगीन मान्यताओं का खंडन किया जो प्रकृति के आंतरिक गुणों और एनिमिस्टिक पहलुओं पर आधारित थे। वस्तुतः यह तथ्य जितना यूरोप के लिए सही है उतना ही दुनिया के अन्य देशों के लिए भी सही है, भले ही वहाँ न्यूटन की देशी पैदाइश न हो पर इस नए विज्ञान ने हर जगह एक ही तरह की भूमिका निभाई। वह भूमिका थी प्रकृति के प्रति साहचर्य वाले बोध को पृष्ठभूमि में धकेल देना।

देकार्त द्वारा प्रचारित तंत्रवाद ने प्रकृति के द्वैतवादी दृष्टिकोण की पेशकश करके मनुष्य के अपने पर्यावरण से संबंधित होने के तरीके को प्रभावित किया। वह द्वैत था। भौतिक पदार्थ और मानसिक पदार्थ। इस नए ज्ञान के कलेवर में अब जानवरों सहित प्राकृतिक चीजें केवल मशीनें थीं, जिनकी शारीरिक रचना और कार्य भौतिकी और रसायन विज्ञान और अंततः गणित के माध्यम से प्रकट किए जा सकते थे। देकार्त का प्रकृति के प्रति यंत्रवादी दृष्टिकोण वह है जो किसी पदार्थ की जटिलताओं के स्तर के आधार पर जीवन और गैर–जीवन के बीच अंतर करता है, न कि किसी महत्त्वपूर्ण जैव संरचना सिद्धांत के आधार पर। देकार्त की प्रकृति की यंत्रवत्

समझ ने वैज्ञानिक प्रगति के लिए जानवरों के मानव दुरुपयोग के लिए एक औचित्य प्रदान किया। मन को शरीर से अलग करके देकार्त ने मनुष्य को उसकी मानसिक क्षमताओं के कारण प्रकृति में उच्च स्थान पर माना, जबकि जानवर, मनुष्य से जैविक समानता के बावजूद, तर्क से वंचित होने के कारण मनुष्य से नीचे स्तर के माने गए। कहा यह गया कि वे मनुष्य की तरह दर्द का अनुभव नहीं कर सकते हैं। इस तरह प्रकृति को एक मशीन में बदलकर नए विज्ञान ने पर्यावरण के प्रति मनुष्य के शोषणकारी रवैये को पोषित ही नहीं किया बल्कि उसे और सुविधाजनक बनाया। विज्ञान और तकनीक के इन प्रभावों का आकलन करते हुए व्हाइट ने कहा है कि मध्य युग में विकसित पश्चिमी विज्ञान और प्रौद्योगिकी पर्यावरण क्षरण का मुख्य कारण हैं।[78] देकार्त के द्वैतवाद का एक अन्य पहलू मन और पदार्थ के बीच इसके स्पष्ट अंतर में निहित है। देकार्त के इस अलगाव को फ्रांसिस बेकन ने आगे बढ़ाया, जो इंग्लैंड में पुनर्जागरण के एक पुरोधा और प्रौद्योगिकी को विज्ञान से जोड़ने वाले पहले विचारकों में से एक थे। उन्होंने घोषणा की कि प्रकृति केवल मनुष्यों के उपयोग के लिए मौजूद है।[79] इतना ही नहीं अपितु इससे आगे बढ़कर हॉब्स सदृश विचारकों ने मशीनों की कार्यप्रणाली के आधार पर समाज रचना और नैतिक विधान को भी रूपांतरित करने का प्रयास किया। इन सबका मानव जीवन पर जो प्रभाव हुआ उसमें मनुष्य, समाज और प्रकृति एक दूसरे से असम्बद्ध हो गए। इस रूपांतरण ने मनुष्य को एक स्वार्थ पूर्ति करने वाला ऐसा संवेदी प्राणी बनाकर रख दिया जिसमें शक्ति की लिप्सा और अस्तित्व की रक्षा एक दूसरे के पर्याय बन गए। असीमित शक्ति की लिप्सा ने पर्यावरण के असीमित दोहन के लिए मार्ग भी प्रशस्त कर दिया।[80]

इन तर्कों और विश्लेषणों का समग्र अर्थ यह है कि एकमात्र विज्ञान को अपने आप में किसी लक्ष्य के रूप में नहीं अपनाया जा सकता है। यह केवल तकनीकी उन्नति को बढ़ावा देने का साधन है, जो प्रकृति को मानव जाति की इच्छा के अधीन करता है। किन्तु, बेकन के विचार और उनके समरूप अन्य विचारों ने प्रकृति के साथ आक्रामक तरीके से व्यवहार किया जाना चाहिए, इसके लिए उस बौद्धिकता का निर्माण करने वाली तर्क की आधारशिला रखी जिसने आज पर्यावरण को ही नहीं अपितु उसके साथ–साथ मनुष्य को भी अस्तित्व के संकट तक पहुँचा दिया है। इन सबका

परिणाम यह हुआ की वैज्ञानिक क्रांति के बाद जब बड़ी–बड़ी मशीनें बनने लगीं और नए–नए उद्योग–धन्धे स्थापित होने लगे और तब विज्ञानवाद के प्रभाव में पर्यावरणीय नैतिकता के तकाजों को शिरे से ही खारिज कर दिया गया। ऐसा समझा गया कि मनुष्य के लिए विज्ञान और तकनीक ऐसा वरदान है जिसके प्रयोग से वह अपने सभी दुखों को दूर कर सकता है और यही विज्ञान एवं तकनीक उसके सुखों में अभिवृद्धि के कारक भी सिद्ध हो सकते हैं। विज्ञान एवं तकनीक के प्रभाव में मनुष्य को सुखों की प्रतीति ऐन्द्रिक वासनाओं की पूर्ति में दिखाई पड़ने लगी। यह आश्चर्यजनक नहीं है कि इस दौर में बेन्थम का उपयोगितावाद समाज एवं राज्य व्यवस्था का प्रमुख निर्देशक सिद्धांत के रूप में विकसित हुआ, जिसने विभिन्न सुखों के मध्य गुणात्मक अन्तर के अस्तित्व को ही नकार दिया। इन सबके मिले–जुले विचार–प्रणाली से ही उस आधुनिकता का जन्म होता है, जिसने एक सभ्यता के रूप में अन्य सभी सभ्यताओं की अपेक्षा अपने को वरेण्य घोषित किया। इतना ही नहीं, औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप अधिशेष उत्पादन के लिए बाजार की तलाश में उपनिवेशवाद की जन्मदात्री भी यही आधुनिक सभ्यता है। इसने आधुनिकता को अनुभववादी ज्ञान के सहारे इस तरह से महिमामंडित किया कि दुनिया में आधुनिकता को अपनाने की होड़ सी मच गयी। सौ साल के भीतर ही इसने ऐसा प्रभाव उत्पन्न किया कि अब युगों–युगों से चले आ रहे तौर–तरीकों, विचारों और जीवन शैली को यह कहकर नकारा जाने लगा कि यह प्रैक्टिकल (व्यावहारिक) नहीं है। किन्तु यदि हम थोड़ा रुककर विचार करें तो पाते हैं कि व्यवहारवाद का तर्क जिस यथार्थवाद पर आधारित है वह स्वयं एक भ्रम है और उस भ्रम को अकूत शक्ति और अनुभववाद के ज्ञान के सहारे व्यावहारिक बनाया गया है।[81] इन सबका परिणाम यह हुआ कि अब यूरोप एक भू–खंड ही नहीं है, बल्कि वह एक सभ्यता के रूप में हर जगह विद्यमान है और उसकी जीवन–प्रणाली जितना अन्य सभ्यताओं में घुसती जा रही है उतनी ही वह पर्यावरण विदोहन के उपक्रम में अग्रसर भी होती जा रही है। वह यूरोप अब हर सभ्यता का ऐसा अंतस बन गया है जिसके देशज आलोचक भी यह नहीं समझ पाते हैं कि वे उसी की भाषा बोल रहे हैं।

इन सबके इतर जब 17वीं शताब्दी में पशुओं पर हो रहे अत्याचार का मुद्दा गंभीर बनने लग गया था तब भी इस प्रथा पर उठे सवाल के विरुद्ध

वैज्ञानिकों ने इस प्रथा को उचित ठहराने के लिए देकार्त और बेकन के प्रकृति के वस्तुकरण के तर्क का ही इस्तेमाल किया। किन्तु इन प्रयासों को फेनोमेनोलॉजी द्वारा भी चुनौती दी गई। फेनोमेनोलॉजी घटनाओं का उनके आवश्यक और विशेष गुणों के संदर्भ में अध्ययन और वर्णन है, क्योंकि ये प्रामाणिक मानवीय अनुभव के माध्यम से खुद को प्रकट करते हैं। फेनोमेनोलॉजी आधुनिक विज्ञान में निहित सभी कार्टीजियन द्वंद्वों को खारिज करती है और व्यक्ति तथा दुनिया के बीच एक सहज एकता का उपदेश देती है, जो खुद को इससे अलग किए बिना प्राकृतिक दुनिया को जानने का एक तरीका है। हुसरल, मार्लीपोंटी और हाइडेगर जैसे फेनोमेनोलॉजिस्ट ने दुनिया को विज्ञान द्वारा वर्णित तरीके से अलग तरीके से देखा। फेनोमेनोलॉजिकल अनुभव के माध्यम से मनुष्य प्रकृति में निहित अर्थ, महत्त्व और उसके मूल्य को अपनाने में सक्षम होता है, जिन्हें आमतौर पर विज्ञान द्वारा अनदेखा किया जाता है; किन्तु इन महत्त्वपूर्ण विचारों को पश्चिम ने अपनी सभ्यता और विकास का अवलम्ब नहीं बनाया। न्यूनाधिक रूप से ऐसा ही आज हर उस देशज स्वर के साथ भी हो रहा है जो विज्ञानवाद और तज्जनित विकास को आईना दिखाना चाहता है। इसका कारण यह है कि विज्ञान,तकनीक, उद्योगवाद आदि मिलकर एक ऐसे वर्ग को जन्म दे चुके हैं जिनका भौगौलिक पहचान भले ही कुछ भी हो किन्तु जिनके हित सार्वदेशीय हैं। यह वर्ग है पूँजीपतियों का वर्ग, जिसका आज की राजनीति और अर्थनीति के साथ–साथ शिक्षानीति एवं भविष्यगत योजनाओं के निर्माण में उस वर्ग की शक्ति की अपेक्षा अधिक प्रभाव है जो लोकतंत्र के माध्यम से बनता–बिगड़ता रहता है।

9. पूँजीवाद और पर्यावरण प्रदूषण

सैकड़ों ऐसे अध्ययन हैं जो यह दर्शाते हैं कि पूँजीवाद का पर्यावरण प्रदूषण एवं क्लाइमेट चेंज से सीधा संबंध है। यदि पूँजीवाद को युद्ध और सैन्य तकनीक के प्रतिष्ठानों के साथ इसका जो गठजोड़ है उसके साथ जोड़कर देखा जाए तो स्थिति अत्यंत भयावह प्रतीत होती है। उदाहरण के लिए अभी जो रूस और उक्रेन के बीच एवं ईरान तथा इजराइल के बीच युद्ध चल रहा है और उसमें जिन विध्वंसक हथियारों का उपयोग हो रहा है वह संकट ग्रस्त पूँजीवाद का आंतरिक द्वंद्व भी है। इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता है। किन्तु, समस्या यह है कि इनमें

प्रयुक्त हथियार अपने बनने के क्रम में विपुल प्रदूषण को जन्म देते हैं और प्रयुक्त किये जाने से उससे भी अधिक पर्यावरण प्रदूषण को अंजाम देते हैं।

पूँजीवाद के आलोचकों, जैसे कि हैनकॉक, ने आर्थिक तर्कसंगतता को पर्यावरण विनाश का प्रमुख कारण बताया है, क्योंकि यह उपभोक्ताओं की जीवनशैली को समायोजित करने के उद्देश्य से प्राकृतिक संपत्तियों को उत्पादों में बदल देता है।[82] इस संबंध में, यह देखा गया है कि पूँजीवाद जिस पर्यावरण शिक्षा को जनता, विशेष रूप से युवा पीढ़ी में, बढ़ावा देती है वह भी लाभ के अधिकतमीकरण के पक्ष में पूँजीवादी प्रवृत्ति को कम करने में कोई ऐसा योगदान नहीं देता है, जिससे आर्थिक प्रतिमान में ऐसे बदलाव के प्रति लोगों को संवेदनशील बना सके जो अतिशय उपभोग पर लगाम लगा सके। 1997 के पर्यावरण मामलों में सूचना तक पहुँच, निर्णय लेने में सार्वजनिक भागीदारी और न्याय तक पहुँच पर कन्वेंशन की प्रस्तावना, जिसे ऑरहस कन्वेंशन के रूप में जाना जाता है, पर्यावरण जागरूकता में इस बदलाव को दर्शाती है। इस प्रस्तावना में पर्यावरण और सतत विकास की समझ को आगे बढ़ाने के लिए पर्यावरण शिक्षा को बढ़ावा देने तथा पर्यावरण और सतत विकास को प्रभावित करने वाले निर्णयों के बारे में व्यापक सार्वजनिक जागरूकता एवं भागीदारी को प्रोत्साहित करने का वचन दिया गया है।[83] व्यापक पूँजीवादी के आर्थिक प्रतिमान के अलावा वंदना शिवा ने दो अन्य प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं की पहचान की है। प्रकृति की अर्थव्यवस्था और जीविका अर्थव्यवस्था।[84] उनके विचार में वैश्वीकरण की विनाशकारी प्रकृति और इसके परिणामस्वरूप मुक्त बाजार नियम प्रकृति और जीविका अर्थव्यवस्थाओं दोनों के उत्कर्ष को कमजोर करते हैं। परिणामस्वरूप, प्राकृतिक संसाधन कम होते जा रहे हैं और स्थानीय समुदायों को कमी के जबरदस्त संकट का सामना करना पड़ रहा है।[85] शिवा ने अर्थव्यवस्था और पारिस्थितिकी के बीच 'पाखंडी' द्वंद्व की निंदा की है जिसे पूँजीवाद बढ़ावा देता है।[86]

व्युत्पत्ति की दृष्टि से अर्थव्यवस्था और पारिस्थितिकी दोनों लैटिन भाषा के ओइकोस शब्द के अर्थ को साझा करते हैं जिसका अर्थ है 'घर'। प्रकृति की अर्थव्यवस्था, अर्थव्यवस्था का पहला और सबसे पुराना रूप है जिस पर बाजार अर्थव्यवस्था आधारित है। हालाँकि इस प्रकार की अर्थव्यवस्था को समय के साथ अनदेखा किया गया और नष्ट कर दिया

गया। प्रकृति के प्रजनन और पुनर्योजी कार्य एक विशाल जैविक प्रक्रिया की तरह हैं जो मनुष्यों के हस्तक्षेप के बिना जीवित संसाधनों का उत्पादन करने में सक्षम हैं। इसके विपरीत, जीविका अर्थव्यवस्था को बुनियादी संसाधनों, जैसे कि ताजे पानी, भोजन और ग्रामीण समुदायों के अस्तित्व के लिए आवश्यक अन्य सामग्रियों के उचित निष्कर्षण की गारंटी के लिए पारिस्थितिक प्रक्रियाओं के साथ एक निश्चित डिग्री के मैत्रीपूर्ण संपर्क की आवश्यकता होती है।[87] वंदना शिवा का इरादा विकास और पर्यावरण संरक्षण के मुद्दों में तात्कालिकता या आघात की भावना पैदा करना है। उन्होंने तर्क दिया कि बहुराष्ट्रीय निगमों और अंतरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों द्वारा संचालित वैश्वीकरण दुनिया की दो–तिहाई आबादी की जीविका अर्थव्यवस्था को खतरे में डालता है, ताकि अन्य तिहाई की शानदार पश्चिमी जीवन–शैली को समृद्ध और समायोजित किया जा सके।[88] हालाँकि, विकास के दर्शन में प्रतिमान बदलाव की यह अवधारणा बढ़ती मानव आबादी को बनाए रखने के लिए प्रकृति की क्षमता से संबंधित पुरानी दुविधाओं के लिए संतोषजनक उत्तर प्रदान नहीं करती है और न ही यह इस बात का ठोस सबूत देती है कि स्थानीय समुदायों का प्रकृति के साथ संपर्क हमेशा सकारात्मक और टिकाऊ होता है।

10. जनसंख्या वृद्धि और पर्यावरण प्रदूषण

जनसंख्या वृद्धि का प्रदूषण से सीधा संबंध है। यह भी एक तथ्य है कि वैज्ञानिक क्रांति के बाद दुनिया की आबादी तेजी से बढ़ी है। 18वीं सदी के अँग्रेज अर्थशास्त्री और पादरी थॉमस रॉबर्ट माल्थस, जिन्होंने खाद्य आपूर्ति में कमी को बढ़ती आबादी से जोड़ा, वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने अधिक जनसंख्या को अकाल और सामाजिक अशांति के प्रमुख स्रोत के रूप में दर्शाया। इसके बाद, नव–माल्थसवादियों ने उनकी परिकल्पना को अपनाया और संसाधनों की कमी की समस्या में पर्यावरणीय आयाम को जोड़ा।[89] अपने प्रसिद्ध लेख ''द ट्रेजडी ऑफ द कॉमन्स'' में हार्डिन ने तर्क दिया है कि पर्यावरणीय विनाश को मुख्य रूप से जनसंख्या वृद्धि और पृथ्वी के सीमित संसाधनों के असीमित दोहन के लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। हार्डिन ने मानव जनसंख्या में वृद्धि को लेकर स्पष्ट चेतावनी के स्वर में कहा कि ''प्रजनन की स्वतंत्रता सभी को बर्बाद कर देगी।''[90] उन्होंने बेंथम द्वारा प्रस्तुत सामाजिक लक्ष्य – 'अधिकतम जनसंख्या के लिए सबका

अधिकतम भला' सिद्धांत का खंडन इस आधार पर किया कि मानव संतुष्टि से समझौता किए बिना मानव जनसंख्या को अधिकतम करना असंभव है।[91] उन्होंने आर्थिक विकास के लिए स्मिथ के अहस्तक्षेपी दृष्टिकोण की भी आलोचना की और यह तर्क दिया कि व्यक्तियों की पसंद जरूरी नहीं कि सार्वजनिक हित में हो, खासकर जब वे प्रजनन पर लागू होते हैं।[92] हार्डिन की राय में, मनुष्यों की अतिजनसंख्या की समस्या का कोई तकनीकी समाधान नहीं है और अन्य अधिक कीमती स्वतंत्रताओं को संरक्षित और पोषित करने का एकमात्र तरीका प्रजनन की स्वतंत्रता को त्यागना है।[93]

इस विचार का मूल यह है कि मनुष्य को अपने 'सामान्य अधिकारों' का आनंद लेने के लिए प्रजनन की अपनी स्वतंत्रता को प्रतिबंधित करना होगा। हालाँकि, एक दृष्टि से यह कट्टरपंथी उपाय लगते हैं और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के उल्लंघन के बिना हासिल नहीं किए जा सकते हैं। हार्डिन के रुख के विपरीत, कैथोलिक चर्च हमेशा से ही जन्म–समर्थक रहा है, जो कृत्रिम गर्भनिरोधक पर प्रतिबंध लगाता है, जबकि वह अमीर और गरीब देशों के बीच वस्तुओं के समान वितरण पर जोर भी देता है, जिससे अधिक खपत जनित समस्या अंततः पर्यावरण प्रदूषण को ही जन्म देती है। चर्च के इतिहासकार और पोपसी पर विशेषज्ञ टिप्पणीकार कोलिन्स ने जनसंख्या के मुद्दे के संबंध में कैथोलिक चर्च द्वारा अपनाए गए मानव–केंद्रित दृष्टिकोण के खिलाफ तर्क दिया है। थॉमस बेरी की तरह कोलिन्स का मानना है कि मानव नैतिकता को व्यापक पारिस्थितिक स्पेक्ट्रम के हिस्से के रूप में देखा जाना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा कि अन्य प्रजातियों के अधिकारों की मान्यता प्राकृतिक दुनिया के लिए मनुष्यों की नैतिक जिम्मेदारी से निकलती है।[94] कोलिन्स ने अपने तर्क में आगे बढ़कर प्रजनन के मानव अधिकार पर प्रतिबंधों को प्राकृतिक कानून के अनुरूप माना, क्योंकि उन्होंने यह पाया कि मनुष्य पारिस्थितिक असंतुलन का मुख्य कारण है।[95]

वस्तुतः जनसंख्या वृद्धि स्वयं अपने आप में पर्यावरण प्रदूषण का उतना बड़ा कारक नहीं है जितना कि यह बन जाता है। अन्य कारक जैसे अतिशय उपभोग को प्रेरित करने वाली उपभोक्तावादी मानसिकता, संसाधनों का अकुशलतापूर्ण प्रबन्धन, भ्रष्टाचार, आत्म–निग्रह पूर्ण जीवन जीने की दृष्टि का अप्रासंगिक हो जाना, भविष्य के प्रति असुरक्षा बोध आदि की जो अनुक्रिया जनसंख्या के साथ होती है, वह सब मिलकर जनसंख्या वृद्धि को पर्यावरण प्रदूषण का एक बड़ा कारक बना देते हैं।

11. समृद्धि का असमान वितरण और पर्यावरण प्रदूषण

अत्यधिक गरीबी और अत्यधिक समृद्धि दोनों ही पर्यावरण की भलाई पर हानिकारक प्रभाव डालते हैं। गरीब देशों में रहने वाले लोग अपनी बुनियादी जरूरतों जैसे पानी और भोजन को पूरा करने के लिए सीधे अपने प्राकृतिक परिवेश पर निर्भर रहते हैं। नतीजन, पर्यावरण क्षरण लोगों के जीवन और स्वास्थ्य के मूल अधिकारों का उल्लंघन करता है, जिससे गरीबी और निराशा बढ़ती है। इससे एक दुष्चक्र तब बनता है जब गरीबी एक ही समय में पर्यावरणीय क्षरण का परिणाम और कारण दोनों होती है। जैसा कि फैबरा ने उल्लेख किया है, ''गरीबी और पर्यावरणीय गिरावट अक्सर एक दूसरे को मजबूत करने वाले दुष्चक्र में बंधे होते हैं, और इस प्रकार गरीबी से संबंधित मानवाधिकारों का हनन पर्यावरणीय समस्याओं का कारण और प्रभाव दोनों हो सकता है।''[96]

उदाहरण के लिए, गरीब लोगों द्वारा कृषि भूमि की उच्च मांग के कारण 1980 और 1990 के बीच मैक्सिको में स्थानीय वन संसाधनों का ह्रास हुआ। ऐसा ही हम भारत एवं चीन में भी पाते हैं। वनों की कटाई से पर्यावरणीय आपदाओं की एक श्रृंखला बनती है, जिसमें जलवायु परिवर्तन, रेगिस्तानीकरण और जैव विविधता का नुकसान शामिल है। यह विनाशकारी वनों की कटाई की प्रथाएँ स्थानीय समुदायों की आजीविका को भी बाधित करती हैं। साथ ही साथ खाद्य आपूर्ति और अन्य स्थानीय उत्पादों की कमी, स्वच्छ पानी की कमी इत्यादि वनों में रहने वाले लोगों के लिए अत्यधिक कठिनाई और गरीबी को बढ़ावा देती है। दूसरी ओर, औद्योगिक देश आर्थिक विकास के एक उपकरण के रूप में उपभोग को बढ़ावा देते हैं और अत्यधिक जटिल जरूरतें पैदा करते हैं, जिससे प्राकृतिक संसाधनों पर और अधिक दबाव पड़ता है। हालाँकि, धन पर्यावरणीय उपभोक्तावाद को भी बढ़ा सकता है, जैसे कि पारिस्थितिकी पर्यटन और प्रदूषण मुक्त मनोरंजन क्षेत्रों की मांग, जैसे कि जंगल, राष्ट्रीय उद्यान और समुद्र तट इत्यादि।

अतः एक हद तक गरीबी और समृद्धि दोनों पर्यावरण संरक्षण की मांग को जन्म भी देते हैं, लेकिन पूरी तरह से अलग–अलग कारणों से। जहाँ निर्धन लोगों के लिए निर्वाह और जीवित रहना मुख्य चिंता का विषय है, वहीं एक स्वस्थ जीवन शैली और सौंदर्यबोध तथा विलासिता को बनाए रखना धनी समाजों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। वर्तमान पारिस्थितिक

बीमारियों के लिए सैद्धांतिक और ऐतिहासिक आधार की खोज में पर्यावरण आंदोलन ने मुख्यधारा की धार्मिक मान्यताओं, आधुनिक विज्ञान की न्यूटनवादी, यंत्रवत् और साधन संबंधी विशेषताओं, जनसंख्या वृद्धि, पूँजीवाद और अत्यधिक गरीबी की ओर उंगली उठाई है। इसलिए, पर्यावरणवाद की विभिन्न प्रवृत्तियों ने अपने स्वयं के सिद्धांत विकसित किए हैं और मनुष्यों और प्रकृति के बीच संबंधों की वैकल्पिक अवधारणाएँ और व्याख्याएँ पेश की हैं। तथापि, यह भी एक तथ्य है कि अत्यधिक समृद्ध व्यक्ति की अपेक्षा अत्यधिक अकिंचन् व्यक्ति पर्यावरण को कम नुकसान पहुँचाता है। इसका कारण यह है कि एक समृद्ध व्यक्ति की तुलना में एक गरीब व्यक्ति को कम उर्जा संसाधनों, कम उपभोग्य वस्तुओं, कम मनोरंजन के साधनों, कम तकनीकों, कम वस्त्रों और कम प्रसाधन की सामग्रियों की जरुरत होती है। इन संसाधनों का यदि बारीकी से विश्लेष्ण किया जाए तो एक यह भी तथ्य उद्घाटित होता है कि समृद्ध व्यक्ति जिन संसाधनों का उपयोग करता है उनमें से अनेक ऐसे होते हैं जो अपने निर्माण के क्रम में भी प्रदूषण फैलाते हैं और उन वस्तुवों का जब उपयोग होता है तब भी वे किसी न किसी प्रकार का प्रदूषण अवश्य उत्पन्न करते हैं।

समृद्धि के असमान वितरण के मूल कारणों की चर्चा करते हुए गाँधी ने इसके लिए हिन्द स्वराज में केंद्रीकृत–मशीनी–उत्पादन को भी जिम्मेदार ठहराया है।[97] यदि इस तथ्य को हम सुमाखर के तर्कों के साथ मीमांसा करें तो केंद्रीकृत–मशीनी–उत्पादन पर्यावरण प्रदूषण को बढ़ावा देने में तो कई तरह से योगदान देता है। सुमाखर का तर्क है कि केंद्रीकृत उत्पादन होने से वितरण के विभिन्न केन्द्रों तक उत्पादों को पहुँचाने की जो कवायद की जाती है उससे भी पर्यावरण प्रदूषण होता है, और यह एक ऐसा कुचक्र है जिसे विकेंद्रीकृत उत्पादन की इकाईयों को लगाकर दूर किया जा सकता था।[98] गाँधी इस मुद्दे को और आगे तक लेकर जाते हैं। उनके एक कथन से हम सभी परिचित हैं कि प्रकृति समस्त मनुष्यों की आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकती है, किन्तु यह किसी एक व्यक्ति के भी लालच को पूरा करने में समर्थ नहीं है।[99] यदि गाँधी के इस तर्क को हम आज की भौतिक समृद्धि के केन्द्रीकरण के आकड़ों को ध्यान में रखते हुए विचार करें तो हमारे समक्ष कुछ भयावह तस्वीर सामने आ जाती है। इस तस्वीर का एक पहलू यह है कि आज एक व्यक्ति के पास इतनी संपत्ति है जितनी दुनिया के एक सौ चालीस देशों के पास एकाकी रूप से नहीं है।[100]

12. पर्यावरणवाद का उद्‌भव एवं विकास

पर्यावरणवाद एक आधुनिक अवधारणा है। इसका संबंध जन–पूँज समाजों (मास–सोसाइटी) में औद्योगीकरणके बाद हुए पर्यावरण प्रदूषण से बचाव के लिए हुए आन्दोलनों और विचारों से है। इसका सीधा संबंध उन विचारों से नहीं है जिन विचारों को अपना कर प्राचीन सभ्यताओं में लोग पर्यावरण अनुकूलित जीवन जीते थे। आधुनिक पर्यावरणवाद और 'वैश्विक पर्यावरण आंदोलन' शब्दों का इस्तेमाल अक्सर 'हरित' या 'पारिस्थितिक आंदोलन' के साथ किया जाता है। चाहे इसे कोई भी नाम दिया जाए, पिछली दो शताब्दियों में यूरोप और उत्तरी अमेरिका में विकसित यह आंदोलन पर्यावरण की भलाई पर मानवीय गतिविधियों के प्रभाव के बारे में बढ़ती चिंताओं को दर्शाता है। शुरुआत में पर्यावरणवाद यूरोप में उपनिवेशवाद और प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के लंबे इतिहास के बाद उभरा और फिर संयुक्त राज्य अमेरिका में फैल गया। इसके बाद यह अब एक विश्वव्यापी आन्दोलन बन गया है। किन्तु, यह भी सत्य है कि जैसे – जैसे पर्यावरण संरक्षण की जागरूकता बढ़ी है, बाजार ने इस मुहीम में भी अपने लाभ को खोजना आरम्भ कर दिया है। इस तथ्य को प्रदर्शित करने के लिए "ग्रीन वासिंग" शब्द का प्रयोग किया जाता है, जो यह बताता है कि अब उत्पादक अपने उत्पाद को इस तरह से प्रस्तुत करते हैं जिससे यह पता चले कि उस उत्पाद को बनाने के क्रम में पर्यावरण को नुकसान नहीं पहुँचाया गया है। जबकि उनके इस दावे की पुष्टि का कोई पुख्ता इंतजाम नहीं होता है।

18वीं शताब्दी में इंग्लैंड में प्राकृतिक इतिहास के विकास ने प्रकृति के सौंदर्य मूल्य और वन्यजीवों के संरक्षण में रुचि को बढ़ावा दिया। 1865 में ब्रिटेन में स्थापित कॉमन्स, ओपन स्पेस और फुटपाथ संरक्षण सोसायटी जैसे निजी पर्यावरण समूह सुविधाओं के लिए स्थानों के संरक्षण के लिए अभियान चलाने वाले पहले संगठनों में से थे।[101] सार्वजनिक जंगल संरक्षण पहली बार अमेरिका में 1864 में तब शुरू हुआ जब काँग्रेस ने मनोरंजन के उद्देश्य से कैलिफोर्निया राज्य को योसेमाइट घाटी प्रदान की। 1872 में दुनिया का पहला राष्ट्रीय उद्यान ''येलोस्टोन'' व्योमिंग, को एक बड़े क्षेत्र में स्थापित किया गया था। राष्ट्रीय उद्यानों के अमेरिकी आविष्कार ने प्रकृति की अपनी सुंदरता और मूल्यों के लिए महिमामंडन के बारे में विचारों के प्रसार को

प्रतिबिंबित करता है। मैसाचुसेट्स के वाल्डेन तालाब में एक केबिन में दो साल बिताने के बाद हेनरी डेविड थोरो (1817–1862) नामक एक अमेरिकी लेखक ने एक समृद्ध साहित्य का निर्माण किया, जो ट्रान्सेंडैंटलिज्म के सिद्धांतों को दर्शाता है, जो तर्कसंगतता के बजाय अन्तर्ज्ञान पर आधारित एक दर्शन है। उन्होंने शहरीकरण और इसके दोषों के विपरीत जंगल द्वारा दर्शाए गए एक सरल जीवन का आह्वान किया। थोरो को पारिस्थितिक सोच का अग्रदूत माना जाता है। अल्बर्ट श्वित्जर (1875–1965) एक और प्रमुख बुद्धिजीवी हैं, जिनका ''जीवन के प्रति सम्मान का दर्शन'' पर्यावरणीय नैतिकता का अग्रदूत है। जीवन के प्रति श्वित्जर का सम्मान सभी जीवित प्राणियों और सभी पदार्थों तक विस्तारित हुआ है।[102] एल्डो लियोपोल्ड (1887–1948) एक भावुक संरक्षणवादी के रूप में प्राकृतिक दुनिया में नैतिक मूल्यों को विस्तारित करने के अपने प्रयास के कारण अधिक विशिष्ट रूप से जाने जाते हैं । उनका ध्यान पारिस्थितिकी तंत्र की अखंडता पर था, जो जीवित प्राणियों से परे मिट्टी, पानी, पौधे और जानवरों, या सामूहिक रूप से भूमि को शामिल करता है।[103] लियोपोल्ड ने भूमि को संपत्ति के रूप में मानाने की पारंपरिक दृष्टिकोण की निंदा की और लोगों से भूमि के साथ सामंजस्यपूर्ण संबंध बनाए रखने का आग्रह किया। 1864 की शुरुआत में जॉर्ज पर्किन्स मार्श (1801–1882) नामक एक अमेरिकी राजनयिक ने अपनी पुस्तक 'मैन एंड नेचर' में देखा कि पूरे इतिहास में मानव गतिविधियों का पर्यावरण पर विनाशकारी प्रभाव पड़ा है। मार्श, जिन्हें पहले पर्यावरणविद् कहा जाता है, उन्होंने मनुष्य को एक 'परेशान करने वाला एजेंट' माना और कहा कि "जहाँ भी वह अपना पैर रखता है, प्रकृति के सामंजस्य बदल जाते है।'' इस प्रकार उन्होंने मानव जाति से प्रकृति के प्रति रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाने और नष्ट हो चुके परिदृश्यों का पुनर्वास करने का आग्रह किया।"

पर्यावरण जागरूकता थोरो और मुइर जैसे दूरदर्शी लोगों के लेखन के साथ चरम पर थी। प्रकृतिवादी जॉन मुइर (1838–1914) ने मुख्य रूप से मनोरंजन, शैक्षिक और आध्यात्मिक उद्देश्यों के लिए वन्यजीवों और पारिस्थितिकी प्रणालियों की रक्षा करने की मांग की। उनके विश्वासों ने राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट को प्रभावित किया और उन्होंने देश भर में कई राष्ट्रीय उद्यानों की स्थापना की।

मुइर द्वारा प्रचारित संरक्षणवाद और संरक्षण के विपरीत गिफर्ड पिंचोट (1865–1946) नामक एक अमेरिकी वानिकी विशेषज्ञ 'मानव उपभोग' के लिए प्राकृतिक संसाधनों के तर्कसंगत और कुशल प्रबंधन में विश्वास करते थे। पिंचोट और मुइर का विरोध योसेमाइट नेशनल पार्क में एक बांध और जलाशय के निर्माण पर बहस में परिणत हुआ। मुइर का परियोजना के प्रति विरोध उनके उपर्युक्त विश्वास से उपजा था जबकि पिंचोट ने प्राकृतिक संपत्तियों को सार्वजनिक प्रावधान और कल्याण के साधन के रूप में माना और यही दृष्टिकोण अन्ततः प्रबल सिद्ध हुआ। दृष्टिकोणों का यही टकराव अभी भी मानव–केंद्रितता के समर्थकों और गहन पारिस्थितिकीविदों के बीच बहस का सार है। ''बैरेट बनाम राज्य'' इस बहस का एक स्पष्ट उदाहरण था। बीवरों के शिकार, उत्पीड़न या उपद्रव को गैरकानूनी घोषित करके न्यूयॉर्क राज्य ने सम्बन्धित प्रजातियों को विलुप्त होने से बचाने की कोशिश की। ऐसे दावेदारों, जिनकी भूमि संरक्षित प्रजातियों की हानिकारक गतिविधियों के कारण अवमूल्यित हुई थी, ने राज्य के खिलाफ मुकदमा दायर किया, जिसमें दावा किया गया कि उन्हें मुआवजे का अधिकार है।

दिलचस्प बात यह है कि न्यायालय ने संरक्षित जंगली जानवरों के आंतरिक मूल्य और जनहित का हवाला देते हुए याचिका कर्ताओं के बीवरों द्वारा पहुँचाए गए नुकसान के दावे को खारिज कर दिया और कहा कि "पुलिस की शक्ति केवल नागरिक के भौतिक या भौतिक हितों की रक्षा तक सीमित नहीं है। उसकी नैतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं पर भी विचार किया जा सकता है। चील को उसके उपयोग के लिए नहीं बल्कि उसकी सुंदरता के लिए संरक्षित किया जाता है।"[104] ''बैरेट बनाम राज्य'' के बाद से उन लोगों के बीच एक वैचारिक विभाजन मौजूद है जो प्रकृति को मानव जाति के लिए और उसे आर्थिक लाभों के संदर्भ में देखते हैं, जबकि प्रकृति संरक्षण के पैरोकार इसके आंतरिक मूल्यों के लिए। अमेरिकी नदी प्रणालियों को विनियमित करने के लिए 1907 में अंतर्देशीय जलमार्ग आयोग के गठन के बाद रूजवेल्ट ने बाढ़ नियंत्रण और गाद की रोकथाम जैसे प्रयासों के लिए पानी के उपयोग पर कुछ प्रतिबंधों की सिफारिश की ताकि एक महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय संसाधन के रूप में इसकी स्थिरता की गारंटी दी जा सके। इन प्रतिबंधों की तुलना अन्य परिचित पर्यावरणीय सिद्धांतों से भी की जा सकती है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि जिस तरह से उपर्युक्त विवरण में पश्चिमी संदर्भों का हवाला दिया गया है, उसी तरह के संदर्भ दुनिया के हर देश से दिए जा सकते हैं। अब तो हर सभ्यता के लोग अपने प्राचीन ग्रंथों में पर्यावरण संरक्षण के बीज प्रदर्शित करने में किसी से पीछे नहीं रहना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में आधुनिक पर्यावरण जागरूकता को हमें प्राचीन पर्यावरण जागरूकता से अलग करके देखना–समझना आवश्यक प्रतीत होता है। इसके दो कारण हैं। प्रथम यह कि आधुनिक पर्यावरण जागरूकता एक हद तक पर्यावरण प्रदूषण से बचने के उपायों की खोज में अस्तित्व में आया है और इसमें प्रकृति के प्रति प्रेम और साहचर्य का बोध नहीं है। एक तरह से इसकी प्रवृत्ति एहतियाती है। जबकि प्राचीन पर्यावरण जगरूकता प्रकृति से प्रेम का और सहजीवन के आदर्श का स्वाभाविक रूप है। दूसरा यह कि आधुनिक पर्यावरण जागरूकता आरोपित है, यह स्वाभाविक नहीं है। इसीलिए हम एक जगह पर्यावरण संरक्षण की बात करते हैं और दूसरी जगह उसे नुकसान भी पहुँचा रहे होते हैं।

आधुनिक पर्यावरणवाद का सिद्धान्त रूप से प्रस्फुटन रचेल कार्सन की साइलेंट स्प्रिंग (1962), पॉल एर्लिच की द पॉपुलेशन बम (1968) और गैरेट हार्डिन के निबंध, ''ट्रेजेडी ऑफ द कॉमन्स'' (1968) के साथ–साथ अन्य विद्वानों के लेखन से माना जा सकता है। इनका पर्यावरण संबंधी मुद्दों की गंभीरता के बारे में लोगों में जागरूकता बढ़ाने में बहुत प्रभाव रहा है। कार्सन की साइलेंट स्प्रिंग को 'पर्यावरणवाद के युग' की शुरुआत करने और जनमत पर इसके उल्लेखनीय प्रभाव के लिए बहुत सराहा गया है।[105] शोध निष्कर्षों और तथ्यात्मक विवरणों के माध्यम से कार्सन एक समुद्री जीवविज्ञानी के रूप में पारिस्थितिकी तंत्र और मानव स्वास्थ्य पर रासायनिक प्रदूषण के विनाशकारी प्रभावों का खुलासा किया। कार्सन ने खाद्य श्रृंखला में कृषि कीटनाशक डीडीटी के संचय के खतरे को भी उजागर किया। उनके लेखन ने रासायनिक और कृषि उद्योगों के हितों को चुनौती दी। उनकी पुस्तक को बदनाम करने की कोशिश की गई, परन्तु उनका काम संयुक्त राज्य अमेरिका के विज्ञान और प्रौद्योगिकी कार्यालय से बाद में वैज्ञानिक अनुमोदन प्राप्त कर विश्वसनीय साबित हुआ। रासायनिक विषाक्त पदार्थों से उत्पन्न खतरों के बारे में बढ़ती सार्वजनिक और सरकारी जागरूकता के परिणामस्वरूप पर्यावरण संरक्षण एजेंसी (ईपीए) ने डीडीटी

सहित 50 सबसे खतरनाक कीटनाशकों के उपयोग पर प्रतिबंध लगा दिया। अपने पर्यावरण को दूषित करने में मनुष्यों की प्रत्यक्ष जिम्मेदारी पर जोर देकर कार्सन ने अपने कार्य के माध्यम से पर्यावरण हितों के दायरे को जंगल संरक्षण और जानवरों की अलग–अलग प्रजातियों से मनुष्यों और पारिस्थितिकी तंत्रों के स्वास्थ्य और कल्याण तक बढ़ाया। आधुनिक पर्यावरणवाद आधुनिकता और कई क्षेत्रों में हुई प्रमुख पर्यावरणीय घटनाओं के खिलाफ एक प्रतिक्रियावादी आंदोलन भी था, खासकर संयुक्त राज्य अमेरिका में।

पर्यावरणीय मुद्दों के प्रति जनता की संवेदनशीलता बढ़ाने वाली पहली बड़ी घटनाएँ टॉरेकैन्यन और सांता बारबरा रिसाव थीं, जिसके परिणामस्वरूप पर्यावरण की रक्षा के लिए संघीय विनियामक कार्यक्रम लागू किए गए – स्वच्छ वायु अधिनियम, स्वच्छ जल अधिनियम और लुप्तप्राय प्रजाति अधिनियम। इन नए कानूनों के कार्यान्वयन का काम पर्यावरण संरक्षण एजेंसी और पर्यावरण गुणवत्ता परिषद् जैसी नव स्थापित पर्यावरण एजेंसियों को सौंपा गया। आगे चलकर दुनियाभर में इन कदमों का अनुसरण हमें देखने को मिलता है। 1970 के दशक के मध्य में उत्तरी अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया में जंगल संरक्षण में रुचि फिर से जागृत हुई। हालाँकि, 1980 के दशक में पर्यावरणवाद की तथाकथित तीसरी लहर के उद्भव ने पहले के पर्यावरणवादियों के आदर्शवाद को चुनौती दी है। यह नई लहर, जो कट्टरपंथी सिद्धांतों से हटकर सरकारों और निगमों के साथ बातचीत और समझौते के माध्यम से पारिस्थितिक समस्याओं को हल करने की ओर उन्मुख रहा, अब 'जंगली स्व' और सामाजिक परिवर्तन की खोज जैसे पारिस्थितिक आदर्शों की तुलना में अर्थशास्त्र और सार्वजनिक नीति पर अधिक केंद्रित हो गया।

आधुनिक पर्यावरणवाद के उदय ने मानव और उनके प्राकृतिक पर्यावरण के बीच नैतिक संबंधों के बारे में चर्चाओं और बहसों को बढ़ावा दिया। इससे पर्यावरण नैतिकता का उदय हुआ, जो दर्शन की एक उभरती शाखा है। तदनुसार, पर्यावरणवादी विचारों में विभिन्न प्रवृत्तियों को दर्शाने के लिए विभिन्न वर्गीकरण और टाइपोलॉजी प्रस्तावित किये गए हैं और अब यह अध्ययन एवं विशेषज्ञता का एक क्षेत्र भी बन गया है। आधुनिकता के आगमन के पूर्व ही लगभग उत्तरवर्ती मध्यकाल में भारत के वर्तमान

राजस्थान राज्य के जोधपुर जिले में 1730 ईस्वी के आस–पास विश्नोई समाज की अमृता देवी का एक प्रतिरोध आन्दोलन का इतिहास मिलता है, जिसमें वृक्षों को काटने से बचाने के लिए सामूहिक आन्दोलन किया गया था। इस आन्दोलन में लगभग 300 लोगों को अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ी थी।[106] यह आन्दोलन तत्कालीन महाराजा के उस आदेश के विरुद्ध था जिसमें महल बनाने के लिए जंगल और वृक्षों को काटने का आदेश दिया गया था। कालान्तर में चिपको आन्दोलन, नर्मदा बचाओ आन्दोलन,शांत घाटी आन्दोलन,नवदान्या आन्दोलन,अपिको आन्दोलन,मैती आन्दोलन, हसदेव बचाओ आन्दोलन,कांचागची बाबली बचाओ आन्दोलन आदि सैकड़ों आन्दोलन देखने को मिलते हैं। इन आन्दोलनों के अतिरिक्त भारत में नदियों की जलधारा को कम होते जाने और नदी जल के प्रदूषण के विरुद्ध भी अनेक आन्दोलन हुए हैं। इन सबके परिणाम स्वरुप भारत में गंगा एक्शन प्लान,यमुना एक्शन प्लान और ऐसे ही अनेक प्लान भारत की प्रसिद्ध नदियों के प्रवाह को बनाए रखने के लिए और उन्हें स्वच्छ बनाने के लिए सरकारी पहल हुए हैं। किन्तु, अभी के हालातों को देखते हुए यह सब अपर्याप्त लगते हैं।

13. पर्यावरणवाद का अंतर्राष्ट्रीयकरण और इसके विधिक आयाम

यहाँ हमें यह स्पष्ट कर लेना चाहिए कि आर्थिक या सैन्य हितों के कारण जंगलों, नदियों और समुद्रों को बचाने के लिए की गई अंतर्राष्ट्रीय संधियों को भी यदि हम पर्यावरण प्रतिरक्षा का कदम मान लेते हैं तब इस मुद्दे का इतिहास अत्यंत प्राचीन हो जायेगा। इसीलिए हमें पर्यावरण रक्षा के सचेत अंतर्राष्ट्रीय पहलों से ही पर्यावरणीय मुद्दों के अंतर्राष्ट्रीयकरण का आरम्भ मानना चाहिए। इस दृष्टि से 1970 के दशक में राष्ट्रीय पर्यावरण नीतियों और विनियमों तथा पर्यावरणीय मुद्दों के अंतर्राष्ट्रीयकरण में विकास देखा गया, जो अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरण संधियों के निर्माण में प्रतिबिम्बित हुआ। ग्रीनपीस और फ्रेंड्स ऑफ द अर्थ जैसे शक्तिशाली पर्यावरण समूहों की स्थापना ने भी इस तरह के विकास को सुगम बनाया है। मानव पर्यावरण पर पहला संयुक्त राष्ट्र वैश्विक सम्मेलन जून 1972 में स्टॉक होम में आयोजित किया गया था। यह वैश्विक सभा, जिसे संयुक्त राष्ट्र मानव पर्यावरण सम्मेलन (यू.एन.सी.एच.ई.) के रूप में जाना जाता है, विकसित देशों द्वारा शुरू की गई थी, जिनके नेता औद्योगीकरण द्वारा पर्यावरण पर किए गए बड़े

पैमाने पर दुरुपयोग से चिंतित थे। पहला पृथ्वी दिवस, एक ऐतिहासिक घटना जो 22 अप्रैल 1970 को संयुक्त राज्य अमेरिका में हुई थी, से आरम्भ हुआ। इस सम्मेलन ने पर्यावरण विषय को प्रभावित किया और इसके प्रति एक वैश्विक जागरूकता की भी नींव रखी। घरेलू पर्यावरण एजेंसियों की स्थापना और संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (यूएनईपी) का निर्माण इस वैश्विक मंच के प्रत्यक्ष परिणाम थे। आर्थिक विकास और पर्यावरण संरक्षण के बीच की खाई को पाटने के प्रयास में संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 1983 में पर्यावरण और विकास पर विश्व आयोग बनाया। चार साल बाद आयोग ने अपनी ऐतिहासिक रिपोर्ट 'हमारा साझा भविष्य' प्रकाशित की।[107]

पर्यावरण और विकास पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन (यूएनसीईडी), जिसे पृथ्वी शिखर सम्मेलन या रियो शिखर सम्मेलन के रूप में भी जाना जाता है, जून 1992 में ब्राजील के रियो डीजेनेरियो में हुआ था। इसमें 172 देशों ने हिस्सा लिया और 100 से अधिक राष्ट्राध्यक्षों या सरकार के प्रमुखों ने भाग लिया। सरकारी प्रतिनिधित्व के अलावा रियो शिखर सम्मेलन में 2400 गैर–सरकारी संगठनों (एनजीओ) ने भी भाग लिया। उत्तर–दक्षिण विभाजन और पूर्व–पश्चिम विरोध जैसे टकराव वाले मुद्दों से दूर एक नए रास्ते की ओर संयुक्त राष्ट्र प्रणाली को संगठित करने के लिए इसकी प्रशंसा की गई। इस शिखर सम्मेलन में पर्यावरण और विकास पर दो अंतर्राष्ट्रीय मसौदे तैयार किए गए – रियो घोषणा और एजेंडा – 21। रियो घोषणा ऐसे 27 सिद्धांतों या उद्देश्यों का एक संक्षिप्त विवरण है जिसे पर्यावरण और स्थिरता से संबंधित मुद्दों में घरेलू विधायकों और नीति–निर्माताओं के लिए प्रेरणा और मार्गदर्शन का स्रोत बनने के लिए डिजाइन किया गया है। एजेंडा– 21 एक व्यापक कार्य योजना है जिसमें एक प्रस्तावना और चार खंड शामिल हैं : सामाजिक और आर्थिक आयाम, विकास के लिए संसाधनों का संरक्षण और प्रबंधन, प्रमुख समूहों की भूमिका को मजबूत करना और कार्यान्वयन के साधन।[108] इसमें दो अन्य प्रमुख पर्यावरण संधियों को भी अपनाया गया; जैविक विविधता पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन और जलवायु परिवर्तन पर संयुक्त राष्ट्र रूपरेखा सम्मेलन (यूएनएफसीसीसी)। संस्थागत तौर पर सतत विकास पर संयुक्त राष्ट्र आयोग (सीएसडी) की स्थापना 1992 में पृथ्वी शिखर सम्मेलन की पहल पर की गई थी। इसका मुख्य कार्य एजेंडा – 21, रियो घोषणा और जोहान्सबर्ग कार्य–योजना के कार्यान्वयन में प्रगति का अनुसरण करना है।

सतत विकास पर विश्व शिखर सम्मेलन, जिसे पृथ्वी शिखर सम्मेलन 2002 के नाम से भी जाना जाता है, पिछले वैश्विक सम्मेलनों और समझौतों के परिणामों पर ध्यान केंद्रित किया : मुख्य रूप से रियो सिद्धांत, एजेंडा–21 और सहस्राब्दि विकास लक्ष्य। सतत विकास पर विश्व शिखर सम्मेलन का मुख्य लक्ष्य 1992 के रियो सम्मेलन के बाद से हासिल की गई प्रगति का मूल्याँकन करना और एजेंडा–21 के कार्यान्वयन को आगे बढ़ाने के लिए कार्य–योजना तैयार करना है। सतत विकास पर विश्व शिखर सम्मेलन के परिणामों में सतत विकास पर जोहान्सबर्ग घोषणा, जोहान्सबर्ग कार्यान्वयन योजना और सतत विकास के लिए साझेदारी शामिल हैं। जोहान्सबर्ग घोषणापत्र सतत विकास के लिए 'विश्व के लोगों के प्रतिनिधियों' की प्रतिबद्धता को दोहराता है और जोहान्सबर्ग शिखर सम्मेलन की भूमिका पर प्रकाश डालता है– "एक ऐसे विश्व की ओर, जो सतत विकास के दृष्टिकोण का सम्मान करता है और उसे लागू करता है, एक आम रास्ते की रचनात्मक खोज में लोगों और विचारों के समृद्ध ताने–बाने को एक साथ लाने में।" कार्यान्वयन योजना विशिष्ट लक्ष्यों और समय–सारिणी के माध्यम से सतत विकास लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए मजबूत तंत्र स्थापित करती है। कार्यान्वयन योजना की नींव सतत विकास के आर्थिक, सामाजिक और पर्यावरणीय स्तंभों के लिए अधिक संतुलित और एकीकृत दृष्टिकोण को अपनाने से उपजी है। यह मुख्य रूप से जल, स्वच्छता, ऊर्जा, स्वास्थ्य, कृषि और जैव विविधता पर केंद्रित है।

14. पर्यावरण संरक्षण की भारतीय दृष्टि

पर्यावरण चिंतन के मूल में जलमंडल, स्थलमंडल, वायुमंडल, वनस्पतिमंडल और जीवमंडल जिसे समग्र रूप से हम प्रकृति कहते हैं, उसके प्रति हमारा विचार होता है। ब्रह्मसूत्र के शांकर भाष्य में छान्दोग्योपनिषद् का उद्धरण देते हुए कहा गया है कि "प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाछब्देभ्यः" और इसकी विस्तृत समीक्षा की गई है। इस समीक्षा में कहा गया है कि समस्त जगत् ब्रह्म का विवर्त है, अतः ब्रह्म का विकारभूत जगत् ही ब्रह्म के वेदन से विहित होता है। समस्त जगत् की सत्ता ब्रह्म से भिन्न नहीं है। अतः आकाश एवं अवांतर रूप से प्रकृति भी ब्रह्म का विवर्त होकर ही ब्रह्म के ज्ञान से ज्ञात हो सकती है अन्यथा नहीं।[109] इसी सन्दर्भ में सृष्टि–उत्पत्ति (प्रकृति जगत्) के सूत्र "तत्तेजोसृजत" अर्थात् अपने

तेज से सृजन किया का अन्य सूत्रों के साथ संबध को प्रदर्शित किया गया है। इसमें वेद वाक्य "सर्वंखल्विदं ब्रह्म" एवं "तज्जलान" (दोनों ही छान्दोग्योपनिषद् के सूत्र हैं) को सृष्टि–उत्पत्ति का सूत्र नहीं कहा गया है।[110] इसके पीछे तीन तर्क हैं। पहला यह कि कारण स्वयं कार्य नहीं हो सकता है। दूसरा यह कि प्रकृति को ही ब्रह्म मान लेने पर ब्रह्म की सत्ता सीमित हो जाती है और तृतीय यह कि प्रकृति नामधेय है और औपाधिक है, जबकि ब्रह्म नामधेय और औपाधिक नहीं है।

वस्तुतः वेदांत के प्रकृति या पर्यावरण दर्शन को समझने के लिए यह समझना जरुरी है कि प्रकृति को ब्रह्म का विवर्त (विकार) किस अर्थ में कहा गया है। यह रोग के अर्थ में विकार नहीं है, अपितु उस अर्थ में विकार है जिस अर्थ में हम तिल के तेल को तिल का विकार कह सकते हैं। जिस तरह तिल का तेल हो सकता है, तिल का लड्डू हो सकता है या तिल का पौधा हो सकता है और उन सबमें तिल कारणत्व के रूप में विद्यमान है। अतः तिल का सिर्फ तेल हो सकता है या जान लेना तिल का जैसे पूर्ण ज्ञान नहीं है उसी तरह ब्रह्म का एक ही विवर्त प्रकृति है, यह जान लेना पूर्ण ब्रह्म को जानना नहीं है। इसी कारण ब्रह्म और प्रकृति के बारे में यह सत्य है कि ब्रह्म प्रकृति में होकर भी प्रकृति से परे है। इस तथ्य को गीता के आख्यानों के माध्यम से भी समझा जा सकता है। विभूति योग नामक अध्याय में योगेश्वर कृष्ण अपने को प्रकृति के अनेक तत्त्वों के रूप में व्यक्त करते हैं और अर्जुन यह भी देख पाते हैं कि सम्पूर्ण प्रकृति ही कृष्ण में स्थित भी है।

वेदांत में मनुष्य एवं प्रकृति के संबंध को समझने के लिए एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व यह भी है कि "अहंब्रह्मास्मि" की उद्घोषणा मनुष्य के लिए हुई है, यह प्रकृति के लिए नहीं है, अब यह अपेक्षा जरुर है कि "अहंब्रह्मास्मि" का बोध रखने वाला मनुष्य प्रकृति के लिए तत्त्वमसि का भाव रखे। इस दृष्टि से ब्रह्म अणु रूपी मनुष्य के अस्तित्व को साकार करने के लिए विराट ब्रह्म ही अपने आप को जल, वायु, अग्नि, पृथ्वी, वनस्पति आदि के रूप में प्रकट करता है। इस नाते वेदांत दृष्टि से प्रकृति एवं मनुष्य में क्रेता एवं विक्रेता का संबंध नहीं है। दोनों में स्वामी एवं दास का भी संबंध नहीं है और न ही दोनों में पोषक एवं संरक्षक का संबध है। बल्कि दोनों में पोषण एवं संरक्षण का ऐसा संबंध है जिसमें दोनों दोहरी भूमिका निभाते हैं। ऐसा नहीं है कि प्रकृति पोषण और मनुष्य उसके संरक्षण के दायित्व से बंधा है, बल्कि

प्रकृति मनुष्य का पोषण एवं संरक्षण करती है और मनुष्य भी प्रकृति का पोषण एवं संरक्षण करता है।

यहीं पर हमें "सर्वंखल्विदं ब्रह्म" का भी प्रकृति के सन्दर्भ में संधान कर लेना चाहिए। जो कुछ भी अस्तित्व में है और जो कुछ भी अस्तित्ववान होगा अथवा जो हमारी बोध की सीमा में अस्तित्ववान नहीं है वह सब ब्रह्म ही है। यह सूत्र अहं ब्रह्मास्मि को एकलवाद की ओर जाने से रोकता है। वैसे तो अहं ब्रह्मास्मि की तत्त्वमसि के साथ संयोग भी एकलवाद के विरुद्ध जाता है, किन्तु अहं और त्वं से परे भी सत्ता है और वह भी ब्रह्म ही है। इस तत्त्व की अभिव्यक्ति "सर्वंखल्विदम् ब्रह्म" में से ही होती है। अहं और त्वं से परे वह सत्ता व्यवहारिक सत्ता की दृष्टि से प्रकृति है और पारमार्थिक सत्ता की दृष्टि से वह प्रकृति का भी कारण ब्रह्म ही है। मनुष्य और प्रकृति दोनों पूर्ण नहीं हैं, दोनों नाशवान हैं और परिवर्तनशील हैं। किन्तु दोनों को एक दुसरे की जरुरत है, पूर्णता के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए। ऐसा इसलिए कि प्रकृति और मनुष्य में द्वैत नहीं है, प्रकृति मनुष्य में भी है (पंचतत्त्व के रूप में) और मनुष्य प्रकृति में भी है (चेतन के रूप में)। अहं ब्रह्मास्मि और तत्त्वमसि मनुष्य का मनुष्य के साथ संबध तक सीमित हो सकता है और इससे एक एकलवादी समग्रता की भी निष्पत्ति की जा सकती है। उदहारण के लिए इन महावाक्यों को यदि हम राष्ट्रों और प्रकृति के साथ संबध में देखें तो वे अपने को अहं ब्रह्मास्मि के रूप में ग्रहण करें और मित्र राष्ट्र को तत्त्वमसि के रूप में ग्रहण करें तब उनके पास प्रकृति का शोषण करने का अवकाश हो सकता है जिसमें वे अन्य राष्ट्रों के लिए प्रकृति का कुछ भी भाग छोड़ना न चाहें। ऐसे में वे अपने लिए एक समग्रता का दावा भी कर सकते हैं, किन्तु ऐसी समग्रता को जातीय समग्रता, एकलवादी समग्रता या लेविनास के शब्दों में कहें तो टोटलिटी कहा जा सकता है, जिसमें अदर शामिल नहीं है। किन्तु जब हम अहं ब्रह्मास्मि और तत्त्वमसि के साथ सर्वंखल्विदम् ब्रह्म को रखते हुए राष्ट्रों और प्रकृति के साथ संबंध का विवेचन करेंगें तब अपना राष्ट्र, मित्र का राष्ट्र और प्रकृति का ही सन्दर्भ नहीं लेंगें बल्कि तब हम अपने जैसा ही मित्र राष्ट्र को, प्रकृति को और अन्य राष्ट्रों को भी मान रहे होंगें और तब हम यह नहीं कह पायेंगें कि प्रकृति हमारे और तुम्हारे लिए है बल्कि तब यह कहेंगें की प्रकृति सब के लिए है। इसी दृष्टि से प्रकृति के बारे में ईशावास्योपनिषद् का कथन साकार होता है कि– **ईशावास्यमिदंसर्वं यत्किंचित् जगत्यां जगत्। तेनत्यक्तेन भुंजीथा मागृधः कस्यस्विद्धनम्।।**[111]

इस श्लोक में प्रथम वाक्य तत्त्वमीमांसीय कथन है और द्वितीय वाक्य उसी तत्त्वमीमांसा से निगमित नैतिक अभ्युक्ति है। 'तेनत्यक्तेन' दूसरों के लिए छोड़ देने का भी अर्थ रखता है और साथ ही यह भी अर्थ रखता है कि ईशावास्यमिदंसर्वं होने के कारण हम सिर्फ उपभोक्ता ही नहीं हैं जो प्रकृति का उपभोग करके ही अपने अस्तित्व को प्रमाणित करता है।

भारत में ही नहीं अपितु दुनिया की प्रत्येक सभ्यताओं में किसी न किसी काल खंड में ईशावास्योपनिषद् का उक्त वाक्य मानव जाति का प्रकृति के प्रति व्यवहार का प्रेरक तत्त्व था। इसे ऐसे भी समझा जा सकता है कि जब भू–सम्पदा, वन, नदी आदि पर व्यक्तिगत मालिकाना हक लोगों को प्राप्त नहीं था तब मृदाप्रदूषण नहीं था, तब धरती शस्यश्यामला थी और नदियों का जल स्वच्छ था। कालांतर में जब व्यक्ति एवं समूहों द्वारा भूमि, वन एवं नदियों के जिन हिस्सों पर मालिकाना हक के दावे किये गए तब उनका प्रदूषण आरम्भ हुआ। प्रदूषण की यह महामारी सबसे अधिक तब प्रकट तब हुई जब यह प्रकृति के उक्त प्राकृतिक अंशों का मनुष्य ने यंत्रों द्वारा विदोहन शुरू किया। प्राकृतिक संसाधनों पर राज्य रूपी संस्था के स्वामीत्व का जब से उदय हुआ तब से भी प्राकृतिक संसाधनों का प्रदूषण और विदोहन अधिक बढ़ा। इसका कारण यह है कि प्राकृतिक संसाधनों पर स्वामीत्व के लिए राज्य ने साझी विरासत का तर्क तो लिया, किन्तु प्रकृति के उपयोग के समय साझी समझदारी और मानवजाति के साझे भविष्य के तर्क को उस समूह के हित के आगे ओझल हो जाने दिया, जिसका राज्य पर प्रभुत्व था। यन्त्र और उद्योग वस्तुतः सामाजिक संरचना और समाज की सोच को भी बदल देते हैं। इस बदलाव ने प्रकृति के प्रति मनुष्य के साझे रिश्ते और साझे भविष्य को वर्तमान के दबाव के आगे वर्तमान हितों की पूर्ति तक सीमित कर दिया। फलतः साझी विरासत उद्योगवाद के वर्तमान में बड़े होते जा रहे पेट को भरने का माध्यम बन गई। किन्तु इस बदलाव को लाने के लिए जरुरी था कि मनुष्य की उस शास्त्रीय परिभाषा को तोड़ा जाय जिसमें वह प्रकृति के साथ अन्योन्याश्रित संबंध रखता था और प्रकृति को वह सजीव ही नहीं मानता था, बल्कि उसमें देवत्व का भी समारोपण करता था। इस तथ्य को एक उदहारण के माध्यम से समझ लेना समीचीन होगा। हम यदि जल का उदाहरण लें तो पाते हैं कि भारत में वरूण जल के देवता हैं। यह एक पौराणिक मान्यता है। इसी तरह ग्रीक लोग पोसीडॉन, रोमन लोग फोंटस,

आर्मेनियाई लोग त्सोविनार, फारसी लोग अनाहिता, चीनी लोग लोंगुम, फ्रेंच लोग सेक्वाना, स्लाव लोग मोकोश एवं डोडोला, मेसोपोटामिया के लोग अब्जू एवं एनबिलुलु, मिस्र के लोग बैरथी एवं खनुम, कांगों के लोग बंजी एवं आयरिश लोग दानू एवं लीर के रूप में जल स्रोत के देवी एवं देवता की संकल्पना करते थे। सूची को और भी विस्तृत किया जा सका है। जल की ही तरह जैसे भारत में पृथ्वी में दैवीतत्त्व का आरोपण किया गया है और बन के देवता की संकल्पना की गई है, वैसी ही संकल्पना दुनिया की अन्य सभ्यताओं में भी रही है। इन सन्दर्भों में जिस विश्वदृष्टि की झलक मिलती है उसे हम सृष्टिकेन्द्रवाद या चराचरवाद कह सकते हैं। इसमें प्रकृति जड़ या निर्जिव सत्ता नहीं है, बल्कि वह सजीव और चेतन सत्ता है। वेदान्त की सभ्यता दृष्टि के अन्तर्गत पर्यावरण चिंतन इसी चराचरवाद या सृष्टिकेन्द्रवाद के रूप में अभिव्यक्त होती है।

सृष्टिकेन्द्रवादी या चराचरवादी पर्यावरण चिंतन आधुनिक कही जाने वाले मानवकेन्द्रित अथवा एन्थ्रोपोसेंट्रिक दृष्टि से अलग है और आज वरेण्य साबित हो रही है। इसकी वरेण्यता की एक सुसंगत झलक हमें प्रसिद्ध पर्यावरणविद् अर्नेस्ट नैस द्वारा दी गई पर्यावरण चिंतन की परिभाषा में मिलती है। वे कहते हैं कि 'पर्यावरण दर्शन मनुष्य एवं प्रकृति के अंतः संबंधों की समान और गैर मानवीय तत्त्वों में भी नैतिकता एवं अधिकार का वह विस्तार है जिसमें समस्त प्रकृति (मानवीय एवं गैर मानवीय बायनेरी विभाजन से मुक्त) एक है।[112]

परन्तु, आगे बढ़ने से पहले तनिक विस्तार से यह विचार कर लेना भी आवश्यक है कि सभी सभ्यताओं में जब नैतिकता एवं श्रद्धा का विस्तार गैर–मानवीय तत्त्वों तक भी था ही, तब यह प्रकृति बनाम संस्कृति का विचार, प्रकृति के दोहन और उस पर वर्चस्व का विचार, प्रकृति के निर्जिव एवं जड़ होने का विचार जो कि पर्यावरण प्रदूषण के मूल में है, उसका उत्स क्या है। इस संबंध में इ.पी. इवान्स के मत का उल्लेख करते हुए नैश लिखते हैं कि बौद्ध या हिन्दू धर्म की तरह ईसाईयत का चरित्र समग्रतावादी नहीं है, बल्कि इसका चरित्र एन्थ्रोपोसेन्ट्रिक है[113] और इसी के गर्भ से पर्यावरण प्रदूषण का जन्म (अधिभार सन्दर्भित) हुआ है। इसी मत को लियान वाईट भी स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि आज की पर्यावरण प्रदूषण की जड़ें यहुदी एवं इसाई शिक्षाओं में सन्निहित हैं। इसके लिए वे ओल्ड टेस्टामेंट के अनेक

उदाहरणों का भी उल्लेख करते हैं, जिनमें (1:2:6,) मुख्य हैं।[114] इस सन्दर्भ को वे और भी स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि ईसाईयत ने प्रकृति के प्रति पवित्रता और आध्यात्मिकता की पैगन निष्ठा को विस्थापित कर दिया, जिसमें प्रकृति को चैतन्य माना गया था। फलतः प्रकृति में हस्तक्षेप करने की नैतिक और धार्मिक बाधाएँ तिरोहित हो गयीं। परिणामतः उस विज्ञान को फलने–फूलने एवं तकनीक को विकसित होने का मौका मिला जो बिना किसी नैतिक बोध के पर्यावरण का उपभोग कर सकता था।[115] वैसे, ऐसे भी अनेक विचारक हैं जो पर्यावरण प्रदूषण को लेकर ईसाइयत पर लगने वाले आरोपों का प्रतिवाद करते हैं और पर्यावरण प्रदूषण को जन्म देने वाले चिंतन के मूल में दूसरे दर्शनों की भूमिका खोजते हैं। उदाहरण के लिए पैसीमोर मानते हैं कि पर्यावरण प्रदूषण के विचार स्टोइक चिंतन में रहे हैं। जहाँ यह कहा गया है कि यह विश्व विवेकशील मनुष्यों के लिए है जो प्रकृति एवं पशु को विवेकहीन मानकर उनके साथ नीति विहीन एवं संवेदनहीन व्यवहार का पथ प्रशस्त करना है।''[116]

वस्तुतः यह प्रश्न इतना स्पष्ट और सरल नहीं है। इसमें यह गुत्थी उलझी हुई है कि प्रकृति की बहुलतावदी अभिलक्षण के साथ आस्था के एकलवादी प्रकल्प का समावेश कैसे किया जाय। वह भी तब जब ईश्वर स्वयं सृष्टि में स्थित नहीं है, बल्कि इससे से बाहर है। यदि मनुष्य दण्डित होकर पृथ्वी पर आया है, तब वह कष्ट भोगकर पवित्र और निष्पाप होगा। इस दृष्टि से पर्यावरण प्रदूषण से होने वाला कष्ट निष्पाप होने का एक मार्ग भी तो हो सकता है। तार्किक रूप से प्रकृति की बहुलतावादी अभिलक्षण और आस्था के एकेश्वरवाद में तार्किक संगति असंभव जैसा है। दूसरी ओर दुनिया भर में एकेश्वरवादियों एवं बहुलवादियों में भी संघर्ष है। बहुदेववादियों की आस्था और प्रकृति की बहुलतावादी अभिमत में संगति तो है, किन्तु दूसरी ओर आस्था के औचित्य एवं अस्तित्व के नाम पर बहुलवादियों और एकेश्वरवारियों में संघर्ष है। इन दोनों ही संघर्षों का सबसे तार्किक समाधान वेदान्त दर्शन में हैं। ब्रह्म एक है और वह एकोऽहं बहुस्याम भी है, वह प्रकृति में स्थित भी है और प्रकृति से परे भी है। इसी कारण वह निर्विशेष रूप से श्रुतियों में प्रतिपादित हुआ है, यथा– 'अशब्दमस्पर्शमरूप मव्ययम्' एवं उसे सविशेष रूप यथा 'अग्निमूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यो दिशः श्रोते वाग्वृताश्च वेदा' के रूप में भी प्रतिपादित हुआ है। वेदान्त मत के अनुसार

सविशेष को ही सर्वस्व मान लेने और उसके निर्विशेष रुप से किनारा कर लेने अथवा स्व को निर्विशेष एवं सविशेष का पुँज मान लेने और प्रकृति को सविशेष तक सीमित कर देने से सभी प्रकार के प्रदूषणों का जन्म होता है। इसके मूल में शरीर धर्मी कर्तृत्व और भोक्तृत्व का विचार है। यह विचार वेदान्त के एकोऽहं बहुस्याम से एकोऽहं को तो अलग कर लेता है, परन्तु बहुस्याम को त्याग देता है।[117] इसी दृष्टि और बोध से समाज एवं प्रकृति से कटे हुए अहंकारी, स्वार्थी मनुष्य का जन्म होता है। उल्लेखनीय है कि पश्चिमी ज्ञानोदय में इस तरह से परिभाषित मनुष्य ही आधुनिक मनुष्य है और यही मनुष्य पर्यावरण प्रदूषण का जन्मदाता भी है।

उक्त विचार के विपरीत वेदान्त के मत का प्रतिपादन करते हुए गीता में स्थूल शरीर की अपेक्षा इन्द्रियों को, इन्द्रियों की अपेक्षा मन को, मन की अपेक्षा बुद्धि को और बुद्धि की अपेक्षा आत्मा को महत्तर माना गया।[118] पश्चिमी ज्ञानोदय में परिभाषित मनुष्य स्वयं अपने एवं प्रकृति को जानने के लिए इन्द्रियानुभववाद पर निर्भर है और इसे वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने का सर्वस्व मानता है। इसके विपरीत वेदान्त ने इन्द्रियानुभववाद से आगे बढ़कर मन, बुद्धि और आत्मा के महत् से महत्तर होते जा रहे आधार को भी स्वीकार किया है। यहाँ पर्यावरण प्रदूषण की ज्ञानमीमांसा के रूप में इन्द्रियानुभववाद की मीमांसा अपेक्षित है और प्रकारान्तर रूप से प्रत्यक्षवाद और यथार्थवाद भी इसी श्रेणी में परिगणित किए जा सकते हैं।

इन्द्रियानुभववाद से हम नाशवान या परिवर्तनशील प्रकृति से परिचित होते हैं और 'स्व' के सन्दर्भ में भी इन्द्रियानुभववाद हमें यही ज्ञान देता है। अर्थात् मनुष्य और प्रकृति दोनों अनित्य, क्षरणशील एवं नाशवान हैं। इस दृष्टि से जब इहलौकिक सफलता को ही सद्गुण के रूप में स्थापित किया जा सकता है, जैसा कि मैकियावेली ने ग्रीककालीन एवं मध्ययुगीन सद्गुण की अवधारणा को परिवर्तित करते हुए प्रस्तावित किया।[119] मैकियावेली के इस विचार में साध्य–साधन विवेक के औचित्य को समाप्त कर दिया गया है जो कि इन्द्रियानुभववाद की स्वाभाविक परिणति है। यहाँ तक कि पूरे आधुनिक युग में प्रकृति के साथ मनुष्य के व्यवहार में यही विचार सबसे प्रबल निर्धारक तत्त्व भी रहा है। वस्तुतः जब प्रकृति एवं मनुष्य दोनों को अनित्य, क्षरणशील एवं नाशवान मान लिया गया हो तब मनुष्य से न तो किसी औदात्य की अपेक्षा की जा सकती है और न ही पर्यावरण

संरक्षण की किसी नैतिकता का सूत्रपात इससे हो सकता है। क्योंकि, जो अनित्य एवं क्षरणशील है उसके संरक्षण का कोई कारण नहीं है और औचित्य भी नहीं है। इन्द्रियानुभववाद और प्रकृति के प्रदूषण के बीच एक दूसरा संबंध भी है। यह संबंध इन्द्रियानुभववाद की उस सीमा में नीहित है जो यह भविष्य को संवेद्य और इन्द्रियानुभव का विषय नहीं बना पाता है। अतः इन्द्रियानुभववाद की जीवन दृष्टि वर्तमान पर आधारित होती है। इसमें वर्तमान ही सर्वस्व है।

यहाँ यह युक्ति दी जा सकती है कि भूतकाल में हुए उद्यमों से घटित वर्तमान के पर्यावरण प्रदूषण का अनुभव तो इन्द्रियानुभववाद करता ही है और उससे मुक्ति का प्रयास भी करता है, ऐसे में इन्द्रियानुभववाद को पर्यावरण प्रदूषण की ज्ञानमीमांसा कहना अतिशयोतिपूर्ण है। इस तर्क का समाधान करते हुए एन्ड्रयू बेरी ने अनुभववादी दृष्टि से पर्यावरण प्रदूषण की समस्या को दूर करने के प्रयासों की खामियों को रेखांकित किया है।[120] इस रेखांकन का विस्तार करते हुए यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि एक तो यह अपनी गलती को सुधारने का प्रयास है। दूसरे यह कि इस प्रयास में भविष्य में परिणाम देने वाली गलती करने का ऐसा उपक्रम भी शामिल है जो वर्तमान में किन्हीं हितों के साधन जैसा प्रतीत होता है। परिणामतः जैसा कि विगत तीन सौ सालों के इतिहास से स्पष्ट होता है कि इन्द्रियानुभववादी ज्ञानमीमांसा का प्रयोग करते हुए पहले हम पर्यावरण प्रदूषण को जन्म देते हैं, फिर उसे कम करने का प्रयास करते हैं और इस क्रम में नये प्रदूषण को जन्म देते रहते हैं। वस्तुतः इन्द्रियानुभववाद एवं पर्यावरण प्रदूषण के मध्य चक्रीय दुष्चक्र का संबंध (विसियस सर्किल) बन गया है।

वेदांत शरीर से उपर इन्द्रिय, इन्द्रिय से उपर मन, मन से उपर बुद्धि और बुद्धि से उपर आत्मा को प्रतिष्ठित करके विषय एवं विषयी को हर आयाम से जानने का प्रस्ताव करता है। यह पश्चिम के प्रत्यक्षवाद एवं अनुभववाद की इन्द्रियोद्भूत एकल सत्य के विचार को स्वीकार नहीं करता है। बल्कि, इन्द्रियानुभव से प्राप्त सत्य का मन और बुद्धि से समीक्षित होने तथा आत्मा से स्वीकार्य होने के बाद ही नित्यानित्य विवेक और आत्म–अनात्म विवेक की कसौटी पर विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति को स्वीकार करता है। ऐसे ही परिष्कृत ज्ञान के माध्यम से ऋषि वनस्पतियों में एवं प्रकृति में चैतन्य तत्त्व की अभिव्यक्ति देख पाते हैं। वेदांत सम्मत पर्यावरण संरक्षण की दृष्टि

बृहदारण्यक उपनिषद् के एक श्लोक में मिलती है। इस श्लोक में वृक्ष एवं मनुष्य में सावयवी समानता को प्रदर्शित किया गया है। इसमें कहा गया है कि जिस तरह मनुष्य के बाल होते हैं उसी तरह वृक्षों के पत्ते होते हैं। जिस तरह मनुष्य की त्वचा होती है उसी तरह वृक्षों के छाल होते हैं। जिस तरह मनुष्य में रक्त स्राव होता है वैसे ही वृक्षों में रस स्राव होता है। मनुष्य के शरीर में मांस की तुलना वृक्षों के काष्ठ से की गई है और यह भी कहा गया है कि जिस तरह मनुष्य में अस्थि मज्जा होती है उसी तरह वृक्षों में गोंद पाया जाता है।[121] छान्दोग्य उपनिषद् में वृक्ष के सुख जाने की तुलना मनुष्य के शरीर से प्राण निकल जाने से की गई है।[122] मुंडकोपनिषद् ''सर्वंखल्विदं'' ब्रह्म की घोषणा को प्रकृति पर्यन्त विस्तारित करते हुए कहता है कि सृष्टि के सम्पूर्ण तत्त्व ब्रह्म स्वरूप हैं, क्योंकि सभी उसी से उत्पन्न होते हैं। उसी परमात्मा से नदियों, पर्वत, पौधे और उनके पोषक तत्त्व भी उत्पन्न हुए है।[123]

प्रकृति एवं मनुष्य के वेदान्तिक संबंधों को समझने के लिए एक अन्तः दृष्टि हमें पश्चिम के प्राकृतिक कानून और सार्वभौमिक विवेक की अवधारणा से भी मिलती है। साथ ही वेदान्त की अवधारणा का प्रयोग करके प्राकृतिक कानून एवं सार्वभौमिक विवेक की मानवकेन्द्रिततावाद की ओर झुकी हुई व्याख्याओं का भी परिहार किया जा सकता है। प्राकृतिक विधि के प्रणेता रोमन विधि शास्त्री सिसरो ने एटीकस से संवाद करते हुए स्थापित किया है कि तर्क बुद्धि ईश्वर और मनुष्य की साझी संपति है (यहाँ सम्पत्ति का अर्थ वेल्थ नहीं है)। सम्यक् तर्क बुद्धि ही कानून है, इसीलिए देवताओं एवं मनुष्यों का कानून एवं न्याय की अवधारणा भी साझी है। वे आगे कहते हैं कि कहते हैं कि जिनमें कानून एवं न्याय की धारणा साझी है, वे वस्तुतः एक ही समाज के सदस्य हैं।[124] वेदान्त इससे आगे बढ़ता है और समझ के नये आयामों को खोलता है। वेदान्त ईश्वर और मनुष्य के साथ चराचर जगत् को भी एक ही समाज का सदस्य बताता है। वह इस साझेपन का आधार चैतन्य तत्त्व को मानता है, जिसका स्रोत प्रज्ञानं ब्रह्म है और जिसका आधार एकमेवाद्वितीयम् है। चेतना के स्तर एवं गोत्र की भिन्नता के कारण विशिष्ट विषयों की आकृति, प्रकृति एवं उद्देश्य भिन्न–भिन्न होते हैं। किन्तु, यह भिन्नता द्रव्यों, पदार्थों एवं जीवों को अलग–अलग समाज का सदस्य नहीं बना देती है, बल्कि इन सबके सोद्देश्यपूर्ण साहचर्य से ही समाज बनता है। वस्तुतः समज के बिना समाज संभव नहीं है। समज एवं समाज की सावयवी

एकता को व्यक्त करते हुए गीता में कहा गया है कि जो सब भूतों की उत्पति का कारण है, वह भी मैं ही हूँ (कृष्ण और प्रकारान्तर से ब्रह्म)। ऐसा कोई चर या अचर भूत नहीं है जो मुझसे रहित हो।[125]

वेदान्त का मत है कि जब मनुष्य व्यवसायात्मिकाबुद्धि[126] में संलिप्त होकर इस प्रकृति को देखता है, तब उसे यह प्रकृति और स्वयं अपना रूप ब्रह्म रहित दिखाई पड़ता है। या यूँ कहें कि वह स्वयं अपने में तथा प्रकृति में ब्रह्म के दर्शन नहीं कर पाता है। तब वह स्वयं अपने को देह, समाज को देहधारियों का समूह और प्रकृति को देहधारियों का उपभोज्य मान लेता है। यह इन्द्रियानुभववाद की भी दृष्टि बन जाती है और यह मन, बुद्धि एवं आत्मा को जकड़ लेती है। इस जकड़न से युक्त मनुष्य प्रदूषण को सह्य मानने को ठीक उसी तरह से तैयार हो जाता है जिस प्रकार अर्जुन विषाद ग्रस्त होकर कौरवों की हिंसा को सह्य मानने के लिए तैयार हो जाता है। इसकी एक दूसरी परिणति भी होती है जो कौरव पक्ष की ओर से आती है। इसके अन्तर्गत हिंसा रुपी पर्यावरण प्रदूषण को ही जीवन का श्रेष्ठ विकल्प एवं मूल्य मान लिया जाता है और कोशिश यह की जाती है कि प्रदूषण की कीमत पर हुए विकास, वैभव एवं सुख को इस तरह से जीवन मूल्य के रूप में स्थापित कर दिया जाय कि प्रदूषण को देखने वाली दृष्टि ही क्षीण हो जाए।

उपर्युक्त दृष्टि को रेखांकित करते हुए कृष्ण कहते हैं कि देह बुद्धि से युक्त और आत्मतत्त्व से विमुख होकर जो केवल भोग में तन्मय हो रहे होते हैं, वे भी कर्मफल की प्राप्ति हेतु वेद वाक्यों में प्रीति का दिखावा करते हैं। इस प्रकार के अविवेकीजन दिखाऊ और शोमा युक्त वाणी का प्रयोग करते हैं और इस वाणी से जिनका चित्त हर लिया गया हो, वे भोग एवं देह सुख में आसक्त होते हैं। उनकी परमात्मा में निश्ययात्मिका बुद्धि नहीं होती है।[127] ऐसे मनुष्यों को गीता में मूढ़ कहा गया है। यहाँ उल्लेखनीय है कि आधुनिकता इस मूढ़ प्रवृत्ति को अपना अनेक अर्थों में आदर्श मानती है और इसी कारण आधुनिकता के आगमन के बाद सबसे अधिक पर्यावरण प्रदूषण हुआ है। परन्तु, विडम्बना यह है कि इसी मूढ़ मनुष्य को पश्चिम ने अपनी उस आधुनिक प्रगति का दावेदार बनाया हुआ है जिस आधुनिक प्रगति में आज यह सम्पूर्ण विश्व समा जाने के लिए उद्धत है।

द्रष्टव्य है कि कृष्ण ने मूढ़ भाव को मुर्खता या बुद्धिहीनता के रूप में नहीं परिभाषित किया है, बल्कि इसे स्मृति भ्रंश की एक अवस्था कहा है। यह बुद्धि के असत् प्रयोग को जन्म देने वाली ज्ञानमीमांसा है। इन्द्रयों की विषयासक्ति से चित्त और मन एक विशेष अवस्था में अपने आत्म तत्त्व से च्युत हो जाता है (कृष्ण कभी आत्म च्युत नहीं हुए हैं, इसी कारण उन्हें अच्युत कहा गया है)। वह विशेष अवस्था तब आती है जब विषयासक्ति से उत्पन्न कामनाओं की पूर्ति में बाधा उत्पन्न होती है और इस बाधा से मन क्रोध से भर उठता है। इसी से मूढ़ता, मूढ़ता से स्मृति भ्रंश, स्मृति भ्रंश से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से सर्वस्व नाश हो जाता है।[128] यहाँ मूढ़ता को समझने के लिए 'क्रोधात्मवति सम्मोहः' पर विचार करना आवश्यक है। लोभ की पूर्ति नहीं होने पर क्रोध को देखा और सुना जाता है। क्रोध की उत्पत्ति पर बुद्धि दोष भी देखा और सुना जाता है। किन्तु, गीता में क्रोध की स्थिति में सम्मोह की बात कही गयी है और इससे स्वरूप ज्ञान के नाश को स्वीकार किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि विषयासक्ति से उत्पन्न कामना में बाधा उत्पन्न होने पर क्रोध विषयानुरक्ति को इस तरह बढ़ा देता है कि विषयी विषय–वासना की पूर्ति को ही अपना सर्वस्व और अपना धर्म मानने लग जाता है। विषयान्तर करते हुए तुलनात्मक सन्दर्भों में देखें तो इसी मूढ मनुष्य की चर्चा डार्विन के उद्विकासवाद में हुई है। क्रोध को उद्विकास के इतिहास में मुलभूत स्थान न दिया गया हो तो सर्वायवल ऑफ दी फिटेस्ट की अवधारणा के आधार पर पशु उद्भव से मनुष्य बनने की कहानी नहीं गढ़ी जा सकती है। बर्गमान इसे ही पश्चिम की 'वीनर मैन' की अवधारणा कहते हैं।[129] यह मानवजाति की समस्त हिंसा और पर्यावरण विनाश के लिए उत्तरदायी तत्त्व है। इस तथ्य को कुछ हद तक मार्क्स ने समझा था, किन्तु वीनर मैन की संकल्पना पश्चिम के लिए इतना महत्त्वपूर्ण है कि स्वयं मार्क्स ने एक वीनर मैन की संकल्पना के स्थान पर दुसरे वीनर मैन की संकल्पना को स्वीकार कर लिया और इसे इतिहास के विवेकीकरण की संज्ञा तक दे डाली।[130]

गीता में जिस मूढ़ता की बात कही गई है उस मूढ़ता को पश्चिमी विद्वानों ने पर्यावरण प्रदूषण की गंभीरता को देखते हुए अपने–अपने तरीके से समझने का प्रयास आरम्भ कर दिया है। पर्यावरण रक्षा के लिए संपोष्य विकास, गिया सिद्धांत, सैलो इकोलोजी एवं डीप इकोलॉजी जैसे विचार इसके उदाहरण हैं। किन्तु, इसका आशय यह नहीं है कि इन सिद्धान्तों की

उत्पत्ति वेदान्त निष्ठा के कारण हुई है। यह सभी सिद्धान्त अनुभववादी विज्ञान की कुछ हद तक सुसंगत व्याख्या के परिणाम हैं, जिनमें तकनीक निष्ठा की मात्रा अभी भी अधिक है और इन्हें और भी सुसंगत होने के लिए वेदान्त निष्ठा की ओर आना अभी बाकी है।

पश्चिम में अब पर्यावरणीय नागरिकता की संकल्पना प्रस्तुत की जाने लगी है, जिसमें नागरिक गुणों में पर्यावरण संरक्षण के कर्तव्यों को शामिल करने की योजना है।[131] किन्तु, वेदान्त में पर्यावरणीय नागरिकता के दार्शनिक सूत्र पहले से ही मौजूद हैं, भले ही उसकी व्याख्या इस अर्थ में नहीं हुई हो। उदाहरण के लिए अहं ब्रह्मास्मि और एकमेवाद्वितीयम् से संबोध्य मानव राज्य का नागरिक बाद में है और वह पहले प्रकृति का नागरिक है। राज्य का ही एकमेव नागरिक होने पर मनुष्य प्रकृति के संरक्षण और प्रकृति के उपभोग को लेकर एक तरह की प्रिजनर्स डायलेमा में होता है। ऐसा इसलिए कि वह सोचता है कि यदि उसने प्रकृति को संरक्षित करने की निष्ठा में अपने हिस्से की प्रकृति का उपभोग नहीं किया तो इसकी कोई गारंटी नहीं है कि उसका दूसरे लोग उपयोग नहीं कर जायेंगे।

पर्यावरण प्रदूषण को रोकने और प्रदूषण को समाप्त करने की वेदांतिक कार्य योजना को मोक्ष की अवधारणा से जोड़कर भी देखा जाना चाहिए। बहिर्मुखी इन्द्रियों से दृष्टिगोचर प्रकृति के ज्ञान से या वैज्ञानिक प्रविधि से प्रकृति के रहस्य को जान लेने से मोक्ष की प्राति संभव नहीं है। तैत्तरीय उपनिषद् की सूक्ति 'ब्रह्मविदाप्नोति परम' एवं छान्दोग्य उपनिषद् की सूक्ति 'तरति शोकमात्ववित्' की व्याखा करते हुए भामती टीका में कहा गया है कि सृष्टि के ज्ञान को कहीं भी पुरुषार्थ का साधन नहीं माना गया है।[132] भाष्यकार इस मंतव्य को आगे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि इस न्याय के अनुसार सृष्टि का ज्ञान स्रष्टा रूप ब्रह्म के ज्ञान का अंगमात्र है, क्योंकि ब्रह्म ज्ञान ही मोक्ष परक एवं सृष्टि ज्ञान मोक्ष रहित है। अतः सृष्टि प्रक्रिया को ऐसी व्याख्या करनी होगी, जिससे ब्रह्म ज्ञान अर्थात् सृष्ट्यादि अंगों द्वारा अंगी ब्रह्म का ज्ञान करना संभव हो।[133]

सृष्ट्यादि अंगों में अंगी ब्रह्म का दर्शन करना ही परम पुरुषार्थ है और इसी पुरुषार्थ को मोक्ष कहा गया है। इस सन्दर्भ में गीता का प्रतिपाद्य है कि सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।[134] इस समदर्शिता के मार्ग में काम (सेक्सुअल अर्जेज के विस्तृत

अर्थ में जिसमें हर तरह की आसक्ति काम कही जा सकती है) को कृष्ण ने सबसे बड़ा बाधक बताया है और इसी काम को मार डालने के लिए बार–बार वे अर्जुन को समझाते हैं। इस मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए गीता का सन्देश यह है :

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।।[135]

उल्लेखनीय है कि अर्थ काम रहित और काम धर्मानुकूल होने पर ही पुरुषार्थ बनता है। ऐसे अर्थ रूपी पुरुषार्थ का अर्थव्यवस्था के संचालन का मुलाधार बनाने पर अर्थोत्पादन की प्रक्रिया भी पर्यावरण प्रदूषण का कारक नहीं बनती है। जिस काम रहित अर्थ को पुरुषार्थ कहा गया है वह अहिंसा एवं स्वदेशी पर निर्भर अर्थव्यवस्था की प्रस्तावना करती है। ऐसा इसलिए कि जब यह शरीर ही क्षेत्र है और आत्मा क्षेत्रज्ञ है तब इस क्षेत्रज्ञ रूपी आत्मा को हिंसा के द्वारा विषयासक्त इन्द्रियों को वश में नहीं करना है, बल्कि योग साधना द्वारा करना है। योग साधना का अभ्यास दूसरे के शरीर पर नहीं किया जा सकता है, बल्कि इसके लिए वह स्वयं के शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को साधन बनाना पड़ता है। यह स्वदेशी का मूल भाव है। यह भाव जब अर्थव्यवस्था में आती है तब अपने–अपने पास–पड़ोस और शारीरिक श्रम से जीविका निर्वाह की जो पद्धति विकसित होती है, उसमें औजार तो संभव हैं, किन्तु मशीन उसमें नहीं आ सकते हैं। ऐसा इसलिए कि मशीन दूसरे के शरीर और मन पर नियंत्रण स्थापित करने के माध्यम तो हैं ही, लेकिन यह योग भ्रष्ट करने के माध्यम भी हैं; क्योंकि यह इन्द्रियों की अमता में बढ़ोत्तरी कर विषयानुरक्ति को बढ़ावा देते हैं।

मशीन न तो योग सिद्ध हो सकते हैं और न ही समदर्शिनः हो सकते हैं। वे प्रकृति में ब्रह्म तत्त्व का दर्शन भी नहीं कर सकते हैं। फलतः मशीन अपनी प्रकृति से ही हिंसक होते हैं और अपने निर्माण क्रम में भी प्रदूषण उत्पन करते हैं और उत्पादन की प्रक्रिया में नियोजित होने पर भी पर्यावरण को प्रदूषित करते हैं। दूसरी ओर योग न तो एक विशिष्ट प्रकार का व्यायाम है और न ही प्रदर्शन की कोई वस्तु है। योग अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, प्रज्ञानं ब्रह्म, सर्वंखल्विदं ब्रह्म के सर्वात्मभाव को धारण करने की क्रिया विधि है। योग युक्त मनुष्य के कर्म यज्ञ बन जाते हैं और ऐसा कर्म ही पुरुषार्थ है। इस पुरुषार्थ से ही पर्यावरण प्रदूषण रूपी पापपुंज का क्षय सम्भव है।

पर्यावरण प्रदूषण को समाप्त करने एवं उसके कारण को निर्मल करने के लिए वेदान्त के सार को गीता में सतत युद्ध की कार्य योजना के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। यह आसुरी प्रवृत्ति के विरुद्ध दैवी प्रवृत्ति का युद्ध है और इसमें अहिंसा, सत्य, अकाम, अक्रोध एवं वैर त्याग, अनासक्ति, निग्रह और सभी भूतों के प्रति दया का आश्रय लेना है। इस संदर्भ में गीता का निर्देश है कि :

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम।
दया भूतेष्वलोलुपत्वं मार्दवं ह्रीरचापलम।।[136]

इस प्रकृति के नाश के लिए वे असत्य में प्रतिष्ठित मनुष्य जिम्मेदार हैं जो आसुरी प्रवृत्ति का सहारा लेकर इस जगत् को आश्रयरहित अपने–आप उत्पन्न मानते हैं।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्।।
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः।।[137]

ऐसी आसुरी प्रवृत्ति से युक्त मनुष्यों के कर्म को गीता में तामसी कर्म कहा गया है। इस तामसी कर्मों ने ही आज मानव जाति को पर्यावरण संकट के भीषण संत्राश की अवस्था में पहुँचा दिया है। गीता में तामसी कर्म उन कर्मों को कहा गया तो जो परिणाम, हानि, हिंसा एवं अपने सामर्थ्य को विचार करके न आरम्भ किया गया हो ।

अनुबधं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामस उच्यते।।[138]

15. समाहार

समाज जैसे–जैसे अधिक तकनीकी रूप से उन्नत होता जाता है, लोग ऐसी जीवन शैली अपनाते हैं जो अधिक परिष्कृत होती हैं। जब प्रकृति पर निर्भरता कम होती है, तो प्राकृतिक शक्तियों और प्राकृतिक संसाधनों पर दैनिक निर्भरता भी कम होती है। धरती माता और मनुष्यों के बीच जन्मजात और आध्यात्मिक नाभि की डोरी टूट जाती है और उसकी जगह व्यापार और आर्थिक लेन–देन पर आधारित निर्वाह की कृत्रिम जंजीरें आ जाती हैं। उदाहरण के लिए, भोजन और स्वास्थ्य की तलाश में आदिवासी समुदायों को मांस, अनाज, फल, औषधीय पौधे और अन्य आवश्यक चीजों के लिए

सीधे अपने प्राकृतिक परिवेश पर निर्भर रहना पड़ता था। इसके विपरीत, आधुनिक समाज अपनी बुनियादी जरूरतों को पूरा करने के लिए सुपरमार्केट और फार्मेसियों जैसे आर्थिक संस्थानों पर निर्भर करते हैं। लोकप्रिय सामूहिक चेतना में प्रकृति एक शानदार वस्तु या कुछ लोगों के लिए एक रोमांटिक आश्रय तक सीमित हो गई है। इस संबंध में पर्यावरणीय नैतिकता प्राकृतिक पर्यावरण के साथ मानव जाति के संबंधों में एक आदर्श बदलाव लाकर प्रकृति के खिलाफ आधुनिक मानवीय पूर्वाग्रह को कम करने का संकल्प लेती है। पारिस्थितिकी संकट पर चल रही बहस के लिए गैर–कानूनी समाधान तैयार करने के प्रयास में पर्यावरणविदों ने पर्यावरण नैतिकता और दर्शन पर अधिक से अधिक भरोसा किया है। उन्होंने लोगों के पर्यावरण के प्रति दृष्टिकोण में सामाजिक और सांस्कृतिक प्रतिमान बदलाव लाने और 'प्रकृति' नामक खोए हुए खजाने के प्रति श्रद्धा और विस्मय की भावना लाने के लिए आध्यात्मिक, ऑन्टोलॉजिकल और धार्मिक व्याख्याओं का सहारा लिया। हालाँकि यह विचारधारा समरूप और सुसंगत नहीं हो सकती है, लेकिन इसका उद्देश्य प्रकृति और मनुष्य के बीच असंतुलन को प्रकृति के पक्ष में ठीक करना है। यह बात अलग है कि अपने सबसे कमजोर रूप में भी मानव–केंद्रितता अभी भी पर्यावरणीय कानूनी प्रणालियों में प्रमुख दर्शन है और पारिस्थितिक मुद्दों के लिए समग्र दृष्टिकोण की बढ़ती समझ और स्वीकृति के बावजूद भी मानवेत्तर संसार की वस्तुओं और जीव–जन्तुओं को आन्तरिक मूल्य प्रदान किया जाना मानव–केन्द्रित दृष्टिकोण की व्यावहारिकता के लिए एक तकाजा ही है। यह विश्वास कि सभी प्रजातियाँ मनुष्यों के लिए उनके मूल्य से स्वतंत्र अपनी निजता में आंतरिक मूल्य से संपन्न हैं, एक काल्पनिक अवधारणा है। यदि इस अवधारणा को क्रियान्वित किया जाता है, तो यह तार्किक रूप से मानव के जैविक अस्तित्व को खतरे में डाल देगा। जैसा कि मर्डी ने देखा, प्रत्येक पशु और पौधे की प्रजाति के आंतरिक मूल्य को स्वीकार करने से मनुष्य को अन्य प्रजातियों की तुलना में अपने अस्तित्व को महत्त्व देने से नहीं रोका जा सकता है। मर्डी का यह विचार तार्किक रूप से इसलिए सही नहीं है कि इसमें यह स्वीकारोक्ति है कि अन्य जीव भी मनुष्य के साथ वैसा ही व्यवहार करेगें जैसा व्यवहार मनुष्य स्वयं प्रिजनर्स डायलेमा में रहते हुए पर्यावरण के प्रति करता है।

पर्यारवणवाद पारिस्थितिक आंदोलनों के दार्शनिक और आध्यात्मिक आधारों की गहन जाँच–पड़ताल कर मानव जाति द्वारा 'अन्यता' को समझने के तरीके में एक क्रांतिकारी बदलाव लाने में पर्यावरणीय नैतिकता की भूमिका को उजागर किया है। दूसरे शब्दों में, यह उस चीज को सुधारने का एक प्रयास है जिसे कई पर्यावरणविद् मानव जाति और अन्य गैर–मानव प्राणियों, पारिस्थितिकी तंत्र, भूमि, ग्रह और पूरे ब्रह्मांड के बीच विकृत संबंध मानते हैं। इन दार्शनिक धारणाओं ने कई अंतर्राष्ट्रीय संधियों में अपना रास्ता खोज लिया है, जैसे कि 1982 का संयुक्त राष्ट्र विश्व चार्टर फॉर नेचर, जो मानवता और प्रकृति के भाग्य के बीच संबंधों पर जोर देता है। विश्व चार्टर अपनी प्रस्तावना में कहता है कि ''मानव प्रकृति का एक हिस्सा है और जीवन प्राकृतिक प्रणालियों के निर्बाध कामकाज पर निर्भर करता है जो ऊर्जा और पोषक तत्त्वों की आपूर्ति सुनिश्चित करते हैं।'' संयुक्त राष्ट्र के इस पहल को पर्यावरण संरक्षण और पारिस्थितिक दृष्टिकोण के लिए सराहा गया है; यह स्वीकार करते हुए कि ''जीवन का हर रूप अद्वितीय है, उनके मानव–सापेक्ष मूल्य की परवाह किए बिना सभी समान रूप से सम्मान के हकदार हैं।''

अनेक अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरणीय सम्मेलनों एवं संधियों के अतिरिक्त भी पर्यावरण को बचाने के लिए रीजनल एवं लोकल समझौते हुए हैं। आज के सभी आर्थिक सहयोग संगठन भी अपने एजेंडे में पर्यावरण को एक प्रमुख मुद्दे के रूप में रखते हैं। इसी तरह बहुपक्षीय एवं द्विपक्षीय व्यापार शर्तों में भी पर्यावरण रक्षा के पहलू को अवश्य रखा जाता है। ऐसे ही अनुसन्धान एवं उत्पादन के उपक्रमों को भी पर्यावरण मैत्री रूप देने की पहल चतुर्दिक दिखाई पड़ रहे हैं। किन्तु, इसी दुनिया में पेरिस पर्यावरण समझौता 2015 से ट्रम्प सरकार द्वारा अपने को अलग कर लेना और भारत तथा चीन जैसे देशों द्वारा कार्बन उत्सर्जन के लिए समय सीमा को लेकर असहमति दर्शाना अंततः यह सिद्ध करता है कि अभी हम तथाकथित विकास और पर्यावरण के बीच चुनाव का प्रश्न आने पर हम उस तथाकथित विकास को ही चुनते हैं; जो धीरे–धीरे हमारे लिए विनाश का पर्याय बनता जा रहा है। ऐसे में यह प्रश्न किया जाना लाजिमी है कि हम जिसे विकास कह रहे हैं, क्या उसने मानव सुख एवं आनन्द में कोई ऐसा आयाम जोड़ा है जिससे मानवजाति सर्वथा अनभिज्ञ थी। निश्चित ही इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर संभव नहीं

है। आज भी सुख और आनन्द के कोई नए प्रारूप नहीं खोजे गए हैं, जिन्हें आधुनिक युग में ही खोज निकाला गया हो। किन्तु, यदि हम दुःख की बात करें तो आधुनिक विकास ने अनेक ऐसे दुखों को जन्म दिया है जो पूर्व–आधुनिक काल में ज्ञात नहीं थे। तब किस तर्क के आधार पर वर्तमान विकास को सर्वथा ग्राह्य माना जाए। इस प्रश्न का एक तार्किक उत्तर यह है कि आधुनिक विकास सुखों एवं आनन्द के वितरण को जन–जन तक पहुँचाता है। क्या संसाधनों का वैश्विक वितरण तथा आय एवं सम्पत्ति का वैश्विक वितरण उक्त दावे को पुष्ट करते हैं, कदाचित् नहीं। ऐसे में क्या यह विचारणीय नहीं है कि हम वास्तव में जिस विकास, लोकतंत्र, लोक–कल्याण, समता आदि की बात करते हुए इनसे अपेक्षा करते हैं और इनके जिन प्रारूपों में हम वास्तव में जी रहे होते हैं, वह एक ही जैसे नहीं हैं। कुछ आधुनिक मिथकों को हकीकत में बदल जाने की अपेक्षा में पीढ़ियों को हम दफन कर चुके हैं और अनेक पीढ़ियों को खतरे में डालते जा रहे हैं। क्या आधुनिक विज्ञान के पास इस सामूहिक अस्तित्व संकट का कोई हल है। हमारी समस्त योजनाएँ और हमारा सामूहिक भविष्य इस आशा पर ही टिका है कि विज्ञान – तकनीक एवं बेहतर प्रबन्धन के द्वारा हम पर्यावरण संकट की समस्या का हल निकाल लेंगे। परन्तु आधुनिक सभ्यता का 'डायनामिक्स' हमारी सामूहिक आशा का समर्थन करता हुआ प्रतीत नहीं होता। इधर भारतवर्ष में भी भारतबोध, सनातन ज्ञान परम्परा आदि की चर्चा खूब हो रही है, जबकि उस ज्ञान राशि को अनुप्रयुक्त विधाओं में लाने की कोशिश शुन्य ही है। पर्यावरण संरक्षण की अभी तक की उपलब्धियों और इसी बीच हुए पर्यावरण प्रदूषण के आंकड़े चिंताजनक अधिक और आशाजनक कम हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि मानवजाति का अंतिम अध्याय लिखा जा चुका है।

आर्य महिला पी.जी. कॉलेज,
(का.हि.वि.वि.), वाराणसी -221002

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी

1. *https://www. Environment & definition of environment by The Free Dictionary, 22 मार्च 2025 को देखा गया।*

2. जे. स्टेन रोवेः https://www. What On Earth Is Environment\The Trumpeter, 22 मार्च 2025 को देखा गया।
3. पूर्वोक्त।
4. क्लाउस बॉसेलमैन (1995), व्हेन टू वर्ल्डस कोलाइड : सोसाइटी एंड इकोलोजी, आर.एस.वी.पी. पब्लिशिंग, ऑकलैंड, पृष्ठ, 4.
5. देखें,जे. आर्मसट्रांग एवं रिचर्ड जी. ब्लोत्ज्लेर, सं. (2003), एनवायर्नमेंटल एथिक्स : डायवरजेंश एंड कनवरजेंश, मैग्राहिल, नयूयार्क, पृष्ठ, 314.
6. पूर्वोक्त, पृष्ठ, 309–310.
7. पूर्वोक्त, पृष्ठ,310.
8. डब्ल्यु.एच. मर्फी (2003), एंथ्रोपोसेंट्रीसिज्म : ए मॉडर्न व्यू अंतर्गत जे. आर्मसट्रांग एवं रिचर्ड जी. ब्लोत्ज्लेर, सं. (2003), एनवायर्नमेंटल एथिक्स : डायवरजेंश एंड कनवरजेंश, पूर्वोक्त, पृष्ठ, 303.
9. क्लाउस बॉसेलमैन, पूर्वोक्त, पृष्ठ, 176.
10. पूर्वोक्त, पृष्ठ, 177.
11. पूर्वोक्त, पृष्ठ, 139–141.
12. पूर्वोक्त, पृष्ठ, 139.
13. पूर्वोक्त, पृष्ठ, 140.
14. पूर्वोक्त, पृष्ठ, 141.
15. जे. बेयर्ड कैलिकॉट (2002), द प्रैग्मेटिक पॉवर एंड प्रॉमिस ऑफ थ्योरीटिकल एनवायरमेंटल एथिक्स : फोर्जिंग ए न्यू डिस्कोर्स, एनवायरमेंटल वैल्यूज अंक– 11, पृष्ठ, 16.
16. क्लाउस बॉसेलमैन, पूर्वोक्त, पृष्ठ, 7.
17. पूर्वोक्त
18. एस्पेन गमलुन्द (2007), हू हैज मोरल स्टेटस इन द एनवायरनमेंट ? ए स्पिनोजिस्टिक आंसर, द ट्रंपटर, अंक–23, भाग–1, पृष्ठ, 5.
19. स्टेन रोवे (1966), फ्रॉम सैलो टू डीप इकोलॉजिकल फिलोसोफी, द ट्रंपटर, अंक–13, भाग–1.
20. देखें, डेविड पीपर (1996), मॉडर्न इकोसेंट्रीसिज्म, पूर्वोक्त, पृष्ठ, 165.
21. देखें, ओ. लोवेजॉय (1936), द ग्रेट चेन ऑफ बीइंग : ए स्टडी ऑफ द हिस्ट्री ऑफ ऐन आईडिया, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस,न्यूयार्क।
22. डेविड पीपर (1996), मॉडर्न इनवायरमेंटलिज्म, पूर्वोक्त, पृष्ठ, 131.

23. पूर्वोक्त, पृष्ठ, 133—134.
24. देखें, एंड्रू ब्रेन्नम (1996, इथिक्स इकोलॉजी एंड इकोनॉमिक्स अंतर्गत एन.एस. कूपर एवं आर. सी. कार्लिंग, सं,एकॉलोजिस्ट्स एंड इथिकल जज्मेंट्स, चौपमैन एंड हिल, लन्दन।
25. पीटर सिंगर (1995), एनिमल लिबरेशन, पिमलिको, लन्दन, पृष्ठ,7.
26. देखें,जॉन मिलर (2003), स्पिनोजा एंड द कांसेप्ट ऑफ ए लॉ ऑफ नेचर, हिस्ट्री ऑफ फिलोसोफी क्वार्टरली, अंक—10, भाग—2, पृष्ठ,266.
27. एस्पेन गमलुन्द (2007), हू हैज मोरल स्टेटस इन द एनवायरनमेंट ? ए स्पिनोजिस्टिक आंसर, द ट्रंपटर, अंक—23, भाग—1, पृष्ठ,7.
28. पूर्वोक्त, पृष्ठ, 10.
29. मेरी ऐनी वारेन (1983), द राइट्स ऑफ द नॉन ह्युमन वर्ल्ड, अंतर्गत, रोबर्ट इलियट एवं अर्रेन गेरे,सं,एन वायरमेंटल फिलोसोफी : ए कलेक्शन ऑफ रीडिंग्स, यूनिवर्सिटी ऑफ क्वीनलैंड प्रेस, सेंट लूसिया, पृष्ठ,119.
30. पूर्वोक्त, पृष्ठ, 164.
31. देखें,अर्ने नेस (1973), द सैलो एंड द डीप,लॉन्ग रेंज इकोलॉजी मूवमेंट, इन्क्वायरी, अंक—16.
32. डेविड पीपर (1996), मॉडर्न इनवायरमेंटलिज्म, पूर्वोक्त, पृष्ठ, 21.
33. देखें रीच हेफ्फेर्न (2004), द फेट ऑफ नेचर इज आवर ओन, नेशनल कैथोलिक रिपोर्टर, अर्थ एंड स्पिरिट सेक्शन, 8, अक्तूबर।
34. https://www.freyamathews-net/downloads/Beyond Materialist Environment, 25 मई 2025 को देखा गया।
35. पूर्वोक्त।
36. पूर्वोक्त।
37. देखें,अर्ने नेस (1987), सेल्फ रियलाइजेशन : ऐन इकोलॉजिकल अप्रोच टू बीइंग इन द वर्ल्ड, द ट्रम्पटर, अंक—4,
38. पूर्वोक्त, पृष्ठ, 10.
39. क्लाउस बॉसेल मैन (1995), व्हेन टू वर्ल्डस कोलाइड, पूर्वोक्त, पृष्ठ, 182.
40. वारविक फॉक्स (1995), टूअर्ड ए ट्रांसपर्सन ल इकोलॉजी : डेवलपिंग न्यू फाउंडेशन्स फॉर इनवायरमेंटलिज्म, यूनिवर्सिटी ऑफ न्यूयार्क प्रेस,न्यूयार्क, पृष्ठ,195—197.
41. पूर्वोक्त, पृष्ठ,199.
42. डेविड पीपर (1996), मॉडर्न इनवायरमेंटलिज्म, पूर्वोक्त, पृष्ठ, 29.

43. देखें,मुर्री बूकचिन (1982), द इकोलॉजी ऑफ फ्रीडम : द एमर्जेंश एंड डिल्यूजन ऑफ फ्रीडम, चेशिर बुक्स,कैलीफोर्निया,
44. रामचन्द्र गुहा (1989), रैडिकल अमेरिकन इनवायर्मेंटलिजम एंड वाइल्डरनेस प्रिजर्वेशन : ए थर्ड वर्ल्ड क्रिटिक, इनवायर्मेंटल इथिक्स, अंक–11, पृष्ठ,74.
45. पूर्वोक्त, पृष्ठ,75.
46. डेविड पीपर (1996), मॉडर्न इनवायरमेंटलिज्म, पूर्वोक्त, पृष्ठ,25.
47. देखें, https://www.equip.rg/articles/radical.environmentalism/25 मई 2025 को देखा गया।
48. डेविड पीपर (1996), मॉडर्न इनवायरमेंटलिज्म, पूर्वोक्त, पृष्ठ,5.
49. देखें,होल्म्स रोल्स्टन (1988), इनवायरमेंटल इथिक्स : ड्यूटीज एंड वैल्यूज इन द नेचुरल वर्ल्ड, टेम्पल यूनिवर्सिटी प्रेस, फिलाडेल्फिया, पृष्ठ,18.
50. https://www.aldoleopold.org/blogs/understanding-the-land&ethic, 25 मई 2025 को देखा गया।
51. देखें, पीटर हे (2002), करेंट्स इन वेस्टर्न इनवायरमेंट थॉट, यूनिवर्सिटी ऑफ न्यू साऊथ वेल्स प्रेस, सिडनी, पृष्ठ,149.
52. लियान व्हाइट जूनियर (1967), द हिस्टोरिकलरूट्स ऑफ ऑवर इकोलॉजीकल क्राइसिस, भाग–155, अंक–3767, पृष्ठ, 1206.
53. एडवर्ड पाईसन इवांस, https://www. The Christian roots of our ecological crisis – Lynn White | ACTA INDICA, 23 मार्च 2025 को देखा गया।
54. लियान व्हाइट जूनियर (1967), द हिस्टोरिकलरूट्स ऑफ ऑवर इकोलॉजीकल क्राइसिस, भाग–155, अंक–3767, पृष्ठ, 1204.
55. डेविड पीपर (1996), मॉडर्न इनवायरमेंटलिज्म, रूटलेज, न्यूयार्क, पृष्ठ,151.
56. देखें, पीटर हे (2002), करेंट्स इन वेस्टर्न इनवायरमेंट थॉट, यूनिवर्सिटी ऑफ न्यू साऊथ वेल्स प्रेस, सिडनी, पृष्ठ,104.
57. स्टीवर्डशिप (परिचारकत्व) बाइबिल में सभी जीवों और पदार्थों के प्रबंधन का वह सिद्धांत है जो मानता है कि ईश्वर सभी का जन्मदाता है और मनुष्य उसका केयर टेकर है।
58. माइकल एस.नार्थकोट (1996), द इन्वायरमेंटल एंड क्रिश्चियन इथिक्स, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस,कैम्ब्रिज, पृष्ठ,126–127.
59. पूर्वोक्त, पृष्ठ, 157–158.
60. काल्विन बी.डेविट (1996), इकोलॉजी एंड इथिक्स : रिलेशन ऑफ रिलीजियस बिलीफ टू इकोलॉजीकल प्रैक्टिस इन द बिबलिकल ट्रेडिशन, अंतर्गत,

इकोलॉजिस्ट्स एंड इथिकल जजमेंट,एन.एस.कूपर एवं आर.सी.जे.कारलिंग द्वारा संपादित,चौपमैन एंड हॉल, लन्दन, पृष्ठ,55—56.

61. जॉन मिज्जोनी(2004), संत फ्रांसिस पॉल टेलर एंड फ्रांसिसकन बायोसेंटी बायोसेंट्रीज्म, इन्वायरमेंटल इथिक्स, अंक—26,पृष्ठ,54.
62. पॉल कॉलिंस (1995), गॉड्स अर्थ : रिलिजन ऐज इफ मैटर रियली मैटरड, विक्दोवे नार्थ ब्लैकबर्न, पृष्ठ, 88.
63. पॉल कॉलिंस (1995), गॉड्स अर्थ : रिलिजन ऐज इफ मैटर रियली मैटरड, विक्दोवे नार्थ ब्लैकबर्न, पृष्ठ, 88.
64. एम्मा टॉमलिन (2002), द लिमिटेशन्स ऑफ रिलीजियस इन्वार्मेंटलिज्म फॉर इंडिया,वर्ल्ड व्यूज, भाग—6, अंक— 1, पृष्ठ,16.
65. पूर्वोक्त।
66. पूर्वोक्त।
67. पूर्वोक्त, पृष्ठ,18.
68. लिंडा एल. हैजर (2010), ह्यूमन राइट्स एंड द इनवायरमेंट : फिलोसोफिकल, थ्योरीटिकल एंड लीगल प्रेस्पेक्तिव्स,मार्टिनमार्टिनस निझोफ्फ, नीदरलैंड, पृष्ठ, 15.
69. पूर्वोक्त।
70. पूर्वोक्त।
71. ईशावास्य उपनिषद : 1／1
72. अथर्ववेद, 12／1／12—13
73. माइकल एस. नार्थकोट (1996), द इनवायरमेंट एंड क्रिश्चियन इथिक्स, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस,कैम्ब्रिज, पृष्ठ,44.
74. जार्ड डायमंड (1987), द वर्स्ट मिस्टेक इन द हिस्ट्री ऑफ द ह्युमन रेस, डिस्कवर मैगजीन।
75. माइकल एस. नार्थकोट, पूर्वोक्त, पृष्ठ, 45.
76. जॉन मैक्कार्मिक (1989), द ग्लोबल इनवायरमेंट मूवमेंट : रिक्लेमिंग पैराडाइज, बेल्हावे प्रेस, लन्दन, पृष्ठ, 22.
77. https://www.businesstoday. in/technology/news/story/ microsofts-water-usage-surges-by-thousands-of-gallons-after-the-launch-of-chatgpt-study—397951— 2023—09—11, 21 जून 2025 को देखा गया।
78. लियान व्हाइट जूनियर, पूर्वोक्त, पृष्ठ,8.
79. जेम्स कोन्नेल्ली एवं ग्राहम स्मिथ (2003), पॉलिटिक्स एंड एनवायरमेंट : फ्रॉम थ्योरी टू प्रैक्टिस, रूटलेज,लन्दन, पृष्ठ, 18.

80. देखें, टामस हॉब्स की ऐतिहासिक रचना लेवियाथन, विशेषकर वैज्ञानिक भौतिकवाद से जुड़े प्रकरण । उल्लेखनीय है की रूसो की रचनाओं में प्रकृति की ओर लौटने का संकेत है। उसने विज्ञान तकनीक एवं आधुनिक बौद्धिकता की इस दृष्टि से आलोचना किया कि यह सब मूल मानव प्रवृत्ति को विनष्ट कर देते हैं। किन्तु, रूसो लोकतंत्रीकरण के जितने बड़े पुरोधा बन पाए उसके एक प्रतिशत भी मूल मानव प्रवृत्ति की पुनर्वापसी के पुरोधा नहीं बन पाए।
81. देखें, रुत्खेर बर्गमान (2022), ह्युमनकाइंड : ए होपफूल हिस्ट्री, ब्ल्युमबेरी पब्लिशिंग, सिडनी।
82. जान हैनकॉक (2003), एनवायरमेंटल ह्युमन राईट्स : पॉवर,इथिक्स एंड लॉ, एल्डर शॉट, एसगेट, पृष्ठ, 27.
83. देखें एन.ई.सी.ई. रिपोर्ट जिसे 25 जून 1998 को हस्ताक्षर के लिए प्रस्तुत किया गया था।
84. वंदना शिवा (2005), अर्थ डेमोक्रेसी, साउथ इंड प्रेस,कैम्ब्रिज, पृष्ठ, 14.
85. पूर्वोक्त।
86. पूर्वोक्त, पृष्ठ, 15–17.
87. पूर्वोक्त।
88. पूर्वोक्त, पृष्ठ, 14.
89. जे.ई. श्वित्जर (1997), द ऐज ऑफ एनवायरमेंटलिज्म, मैग्राहिल, न्यूयार्क, पृष्ठ, 5–6.
90. गैरेट हार्डिन (1968), द ट्रेजडी ऑफ कामन्स, साइंस, अंक–162,पृष्ठ, 1248.
91. पूर्वोक्त।
92. पूर्वोक्त, पृष्ठ, 12 43–12 44.
93. पूर्वोक्त, पृष्ठ,1248.
94. पॉल कॉलिंस, पूर्वोक्त, पृष्ठ, 69–71.
95. पूर्वोक्त।
96. एड्रिना फैबरा (2002), यू.एन.ई.पी. ओ.एच.सी.एचआर. में प्रस्तुत पत्र जिसका उल्लेख लिंडा हैजर ने किया है। देखें, लिंडा हैजर(2010), पूर्वोक्त।
97. देखें,एम. के.गाँधी (2001), हिन्द स्वराज, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी।
98. देखें, ई.एफ. सुमाखर (2010), स्माल इज ब्यूटीफुल : ए स्टडी ऑफ इकोनॉमिक्स ऐज इफ पीपुल मैटर्ड, हार्परकॉलिंस, न्यूयार्क।
99. जॉन एस.मुलाकट्टू (2010), गाँधी ऐज ए ह्युमन इकोलोजिस्ट, ह्युमनइकोलॉजी, मार्च, पृष्ठ, 9.

100. https://economictimes-indiatimes-com/news/international/ global-trends/elon-musks-net-worth-500-billion reaches new-high-first-ever-person-to-achieve-this- feat-check- wealth- and-how-he-built-his-venture/articleshow/ 116427332-cms\from¾mdr,1 जून 2025 को देखा गया।
101. जॉन मैक्कार्मिक, पूर्वोक्त, पृष्ठ, 5.
102. श्वित्जर, पूर्वोक्त, पृष्ठ, 61.
103. एल्डो लियोपोल्ड (1996), द लैंड इथिक, अन्तर्गत, एन एनवायरमेंटल लॉ एथोनोलोजी, राबर्ट, एल. फीसमैन एवं अन्य द्वारा संपादित,एन्डरसन पब्लिशिंग कंपनी, ओहोयो, पृष्ठ, 16.
104. बैरेट बनाम राज्य 220 वाईएन 423 (1917).
105. श्वित्जर, पूर्वोक्त, पृष्ठ, 42.
106. https://www.indiatoday.in/india/story/bishnoi.community.khejarli-massacre-maharaja-jodhpur-khejri-tree-hugging-rajasthan-chipko-movement-salman-khan-blackbucks–2619054–2024–10–18, 1 जून 2025 को देखा गया।
107. https://www.are.admin.ch/are/en/home/media/publications/sustainable-development/brundtland-report.html, 25 मई 2025 को देखा गया।
108. https://sustainabledevelopment.un.org/outcomedocuments/ agenda21/, 25 मई 2025 को देखा गया।
109. आदि शंकराचार्य (2014), ब्रह्मसूत्रशांकर भाष्य, भाग–2, स्वामी योगीन्द्रानन्द द्वारा सम्पादित, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, पृष्ठ– 773– 774.
110. पूर्वोक्त.
111. ईशावास्यो उपनिषद्, 1/1
112. आर.एफ. नैश (1989), द राइट्स ऑफ नेचर : ए स्टडी ऑफ इन्वायरमेंटल इथिक्स, विसकोंसिन्स, यूनिवर्सिटी ऑफ विसकोंनिसन्स प्रेस, पृष्ठ, 4.
113. पूर्वोक्त, पृष्ठ, 51.
114. लियान वाइट जूनियर(1996),द हिस्टोरिकल रूट्स ऑफ ऑवर इकोलॉजिकल क्राइसिस, पूर्वोक्त,पृष्ठ–5.
115. पूर्वोक्त, पृष्ठ, 7–8.
115. जॉन पैसिमोर (1975), द ट्रीटमेंट ऑफ एनिमल्स,जर्नल आफ द हिस्ट्री ऑफ आइडियाज, अंक–36, पृष्ठ,196.

116. स्वामी करपात्री जी महाराज (2010), भक्ति सुधा, मथूरा, राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, पृष्ठ, 728.
117. इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्योबुद्धेः परतस्तु सः ।।श्रीमद्भगवद्गीता, 3/42
118. एम. बी. फास्टर (1986), राजनीतिक चिंतन के आचार्य, भाग–1, ओमप्रकाश गाबा द्वारा अनुदित, नई दिल्ली, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, पृष्ठ–288–292.
119. एण्ड्रयू बैरी (2021), ह्वाट इज एन इन्वायरमेंटल प्राब्लम, थ्योरी, कल्चर एण्ड सोसाइटी, भाग–38, अंक–2, पृष्ठ– 93–117.
120. वृहदारण्यक उपनिषद्, 3:9.28
121. छान्दोग्योपनिषद्, 6 : 11.1–2
122. मुण्डकोपनिषद्, 2:1.9
123. एम. बी. फास्टर (1986), राजनीतिक चिंतन के आचार्य, भाग–1, ओमप्रकाश गाबा द्वारा अनुदित, नई दिल्ली, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, पृष्ठ,192.
124. श्रीमद्भगवद्गीता, 10.39
125. व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्तास्श्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम ।। श्रीमद्भगवद्गीता, 2/41.
126. श्रीमद्भगवद्गीता, 2/42–44.
127. श्रीमद्भगवद्गीता, 2/ 62–63.
128. रुत्खेर बर्गमान, पूर्वोक्त.
129. देखें, विश्वनाथ मिश्र (2019), पश्चिमी ज्ञानोदय के वैचारिक संकट, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली में मार्क्सवाद नामक अध्याय।
130. देखें, एंड्रयू डोब्सन, सं, (2006), इन्वायरमेंटल सिटिजनशिप, एम आई टी प्रेस, न्यूयार्क।
131. आदि शंकराचार्य, पूर्वोक्त, पृष्ठ,495.
132. पूर्वोक्त, पृष्ठ, 494.
133. श्रीमद्भगवद्गीता, 6/29
134. श्रीमद्भगवद्गीता, 6:29
135. श्रीमद्भगवद्गीता, 3:41
136. श्रीमद्भगवद्गीता, 16:2
137. श्रीमद्भगवद्गीता, 16:8–9.
138. बाद में बाईडन सरकार ने पुन : पेरिस जलवायु समझौते के प्रति अपनी प्रतिबद्धता दर्ज की ।

पश्चिमी दर्शन में संदेहवाद : पक्ष, विपक्ष एवं उभरते आयाम

रवीन्द्र के.एस. चौधरी

1. संदेहवाद का सामान्य स्वरूप और वैचारिक आधार :

ज्ञानमीमांसा की कुछ मौलिक समस्याएँ हैं : क्या ज्ञान संभव है? और, यदि ज्ञान संभव है तो वह किस सीमा तक संभव है? संदेहवादी दृष्टि से ये मूलगामी महत्त्व के प्रश्न हैं। संदेहवाद ज्ञान की संभावना और सीमा से संबंधित एक विशिष्ट ज्ञानमीमांसीय सिद्धांत है। संयत रूप में संदेहवाद मानवीय ज्ञान की संभावनाओं को न्यूनाधिक्य रूप से सीमित मानता है। परंतु उग्र रूप में यह ज्ञान की संभावना को ही एक सिरे से नकार देता है। चरम संदेहवाद किसी भी तरह के ज्ञान की सत्यता और प्रामाणिकता की अस्वीकृति है।

ज्ञान की सीमाएँ प्राचीन काल से ही ज्ञानमीमांसकों के लिए वाद–विवाद के विषय रहे हैं। मानवीय ज्ञान की संभावना को हम जितना ही सीमित मानते हैं उतना ही अधिक हम संदेहवादी होते चले जाते हैं। संदेह यों ही मनमाने ढंग से पैदा नहीं होता; संदेहवाद की उत्पत्ति के कुछ वैचारिक आधार हैं। साधारणतया संदेहवाद पर दो दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है– मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक।

(क) संदेहवाद का एक उल्लेखनीय मनोवैज्ञानिक आयाम है। किसी भी ज्ञानमूलक दावे के लिए उसमें संबंधित ज्ञाता का विश्वास होना अनिवार्य माना जाता है। विश्वास आवश्यक रूप से ज्ञान के साथ चलने वाली मानसिक प्रक्रिया है। इसलिए विश्वास को ज्ञान के लिए मनोवैज्ञानिक शर्त के रूप में स्वीकार किया जाता है।

परंतु विश्वास कभी भी सरल या अमिश्रित नहीं होता। विश्वास और संदेह दोनों ही मानव मन की सहज और सहगामी प्रवृत्तियाँ हैं। लेकिन जब किसी विषय में अविश्वास करने की प्रवृत्ति अधिक बलवती हो जाय तो वैसी स्थिति हमें अपरिहार्य रूप से संदेहवाद की ओर ले जाती है। ऐसी दशा में किसी भी विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी जानने का दावा नहीं किया जा

ISSN-0974-0053 (Refereed Journal)

सकता है। उनके विषय में अधिक–से–अधिक कुछ संभाव्य मत कायम किए जा सकते हैं।

इस तरह मानवीय ज्ञान की प्रक्रिया सामान्यतया दो प्रतिद्वंद्वी संज्ञानात्मक आदर्शों के बीच संपन्न होता है– सत्यता में विश्वास और असत्यता का परिहार।[1] एक ओर तो हमारे भीतर अधिक–से–अधिक महत्वपूर्ण सत्यों में विश्वास करने की दृढ़ इच्छा होती है। दूसरी ओर हम यह भी चाहते हैं कि जो कुछ असत्य है उस पर किसी भी तरह से हमारा विश्वास कायम न हो। ये दोनों इच्छाएँ ऐसे प्रतिद्वंद्वी आदर्शों के परिचायक हैं जिनके औचित्यपूर्ण समन्वय से ज्ञानार्जन प्रक्रिया का नियमन हो सकता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सत्यता में विश्वास और असत्यता का परिहार करने की प्रवृत्तियों के आपसी खींचतान के बीच ही मानवीय ज्ञान–प्रक्रिया संपन्न होती है। इन दोनों में से किसी एक के अतिरेक की परिणति ऐसी चरम स्थिति में होती हैं जिसे दार्शनिक दृष्टि से संतोषजनक और स्वीकार्य नहीं माना जाता।

किसी ज्ञान के लिए पर्याप्त और ठोस प्रमाण का होना अनिवार्य माना जाता है। इस प्रामाणिकता शर्त को पूरा किए बिना जैसे–तैसे अत्यधिक विश्वास करने की प्रवृत्ति के फलस्वरूप हठवाद हावी हो सकता है। दूसरी ओर असत्यता में विश्वास का परिहार करना भी अत्यावश्यक है। परंतु इस पक्ष पर जरूरत से ज्यादा जोर देने से प्रामाणिकता की कठोर कसौटियाँ और ज्ञान की संकुचित सीमाएँ खड़ी हो जाती हैं। ऐसी माँगों को पूरा करना प्रायः असंभव होता है और इसकी परिणति संदेहवाद में होती है।

(ख) दार्शनिक दृष्टिकोण से एक सिद्धांत के रूप में संशयवाद पर आजकल प्रायः तार्किक ढंग से विचार किया जाता है। परंपरागत संशयवाद अधिकांशतया मनोवैज्ञानिक रहा है, जबकि समसामयिक संशयवाद प्रधानतया आलोचनात्मक है।

दैनिक जीवन और व्यवहार में हम प्रायः विश्वास के आधार पर जीवन जीते हैं। साधारणतया हम ऐसा मानते हैं कि विश्व के बारे में हम अनेक बातों को जानते हैं और ऐसी जानकारी को हमलोग आपस में बखूबी साझा कर सकते हैं। जो कुछ हम जानते हैं उसकी सत्यता पर हमें पूरा विश्वास होता है। ऐसे विश्वास के पक्ष में हमारे पास इतने सबल साक्ष्य भी

हो सकते हैं कि वे हमें निश्चायक लगें। परंतु इन सबके बावजूद विपरीत उदाहरणों के उभरकर सामने आने की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता। ये विपरीत उदाहरण हमारे विश्वासों को कभी भी संदेहास्पद बना सकते हैं या उन्हें असत्य सिद्ध कर सकते हैं।

दरअसल, सैध्दांतिक दृष्टि से ज्ञान को प्रायः कठोर तार्किक अर्थ में ग्रहण किया जाता है। दर्शन दृष्टि देता है, इससे हमें सत्यों का ही ज्ञान हो सकता है; असत्यता ज्ञान का वैध विषय नहीं बन सकती। यदि हम किसी चीज को सचमुच जानते हैं तो वह अनिवार्यतः सत्य है। इसे सच्चाई का सिद्धांत (Verity Principle) कहते हैं।[2] फिर ज्ञान के मानक विश्लेषण के अनुसार ज्ञान प्रामाणिक सत्य विश्वास है। ऐसा ज्ञान प्रतिज्ञप्तिमूलक होता है। इस दृष्टि से वस्तुतः सत्य होना ज्ञान के लिए एक अनिवार्य शर्त है और ज्ञान के सत्यता शर्त में ही निश्चयात्मकता की धारणा अंतर्निहित हैं।

इसलिए संदेहवादी का पक्ष मात्र मनोवैज्ञानिक नहीं, अपितु तार्किक भी है। संदेहवादी की आपत्ति ज्ञान के प्रचलित मानक की तार्किकता को लेकर है। हमारे समय का संदेहवादी मानता है कि हमने ज्ञान के इतने ऊँचे और कठोर मानक तय कर रखे हैं जिनका तार्किक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रहा जाता है। इन मानकों पर खरा उतरना प्रायः असंभव होता है। संदेहवादी दृष्टि से जिन आधारों पर हम किसी बात पर आश्वस्त होने के अधिकार को स्थापित करना चाहते हैं वे आधार ही अंततः महत्वहीन ठहरते हैं।[3] अतः समकालीन संदेहवाद के अनुसार हमारे प्रमाणीकरण के मानक ही तार्किक दृष्टिकोण से त्रुटिपूर्ण और आपत्तिजनक हैं।[4]

यदि किसी ज्ञानमूलक दावे के मामले में शक–सुबहा की थोड़ी भी गुंजाइश है तो हम उसे कैसे वैध या सही मान सकते हैं? अतः ऐसा प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या ऐसी प्रतिज्ञप्तियाँ संभव हैं जिन्हें हम संदेहरहित रूप से जान सकते हैं? इस पर अनेक दार्शनिक संदेहशील रहे हैं। उनके अनुसार ऐसी प्रतिज्ञप्तियाँ वास्तव में असंभव या फिर दुर्लभ हैं जिन्हें हम असंदिग्ध रूप से जान सकते हैं। किसी ज्ञानमूलक दावे के पक्ष में हमारे पास ठोस प्रमाण या साक्ष्य हो सकते हैं, परंतु पूर्णतया निर्णायक कतई नहीं।[5]

इस तरह संशयवाद मूलतः एक ऐसी अभिवृत्ति है जिसकी तार्किक निष्पत्ति से पार पाना ज्ञानमीमांसा के लिए चुनौतीपूर्ण हो जाता है।

परंपरागत संदेहवाद में ज्ञान की संभावना और प्रामाणिकता को लेकर बड़े ही कठोर मानदण्ड निर्धारित कर दिए गए। ऐसे मानदण्ड पर खरा उतरना किसी भी ज्ञानमूलक दावे के लिए प्रायः असंभव या दुष्कर होता है। इसलिए जिन विषयों के पक्ष में अपर्याप्त प्रमाण या दुर्बल साक्ष्य उपलब्ध होते हैं उनके मामले में लोग सहज ही संशयवादी दृष्टि के कायल हो जाते हैं।

2. संशयवाद के प्रकार :

पश्चिमी दर्शन के इतिहास में संशयवाद के कई रूप या प्रकार देखने को मिलते हैं। संशयवाद के ये प्रकार परस्पर–व्यावर्ती नहीं, बल्कि कई दृष्टियों से कमोबेश परस्पर–व्यापी हैं। ये आपस में कई विशेषताओं को साझा करते हैं। परंतु संशयवाद को समझने में उसके ये रूप काफी सहायक हैं।

(क) यदि संदेह की सीमा को लेकर विचार किया जाये तो संशयवाद के दो प्रमुख रूप हैं:

(1) अमर्यादित या असंयमित संशयवाद

(2) मर्यादित या संयमित संशयवाद

अमर्यादित संशयवाद के अनुसार कोई भी व्यक्ति कुछ भी नहीं जानता और न ही वह कुछ जान सकता है। यह आत्यंतिक संशयवाद है; क्योंकि इसके अनुसार किसी भी व्यक्ति के लिए कुछ भी जानना नितान्त असंभव है। इसका मतलब यह है कि हमारे लिए किसी भी सैद्धांतिक या व्यावहारिक विषय पर सुदृढ़ मत रखने का कोई विश्वसनीय आधार नहीं हो सकता।

मर्यादित संशयवाद के अनुसार हमें वास्तव में किसी विषय के बारे में भले ही निश्चित ज्ञान नहीं हो परंतु ज्ञान होने की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अनेक मामलों में हमें इतनी जानकारी मिल सकती है कि हम संभाव्य मत कायम कर सकते हैं। इस तरह व्यावहारिक जीवन के लिए जरूरी विश्वासों को लेकर हम स्थिरमत हो सकते हैं। इसलिए अमर्यादित संशयवाद की अपेक्षा मर्यादित संशयवाद अधिक प्रचलित रहा है।

डेविड ह्यूम स्वयं को मर्यादित संशयवादी मानता है और उसका यह भी मत है कि अमर्यादित संशयवाद का उदाहरण मिलना दुर्लभ है। ह्यूम की दृष्टि में संशयवाद सच्चे अर्थों में मानवीय ज्ञान की असंभावना पर नहीं, अपितु हमारी बोधशक्ति की सीमा पर बल देता है। उसके अनुसार

अनुभव ज्ञान–प्राप्ति का एकमात्र साधन है और इस रूप में हमारा ज्ञान–सामर्थ्य सीमित है। मर्यादित संशयवाद का मकसद मानवीय बोध–शक्ति की क्षमता और उसकी सीमा से हमें अवगत कराना है। ऐसी अवगति आवश्यक है ताकि हमारी बोध–शक्ति को उन विषयों पर केन्द्रित किया जा सके जो उसकी वास्तविक क्षमता के लिए उपयुक्त और अनुकूल हैं।

(ख) क्षेत्र या विषय–विस्तार की दृष्टि से संशयवाद के दो प्रमुख रूप हैं:

(1) स्थानिक या आंशिक संशयवाद

(2) वैश्विक या सर्वग्राही संशयवाद

स्थानिक संदेहवाद के अनुसार संदेह का भी दायरा होता है। ज्ञान और संदेह दोनों की अपनी–अपनी सीमाएँ हैं। हमारे लिए कुछ विशेष क्षेत्रों में ज्ञान की प्राप्ति असंभव है, भले ही कुछ अन्य क्षेत्रों में वह संभव हो। तत्त्वमीमांसा, धर्म, आचारशास्त्र, भविष्य आदि ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ निश्चित ज्ञान मिलना प्रायः असंभव है।

वैश्विक या सर्वग्राही संशयवाद के अनुसार हमें किसी भी क्षेत्र में कोई संदेहरहित ज्ञान नहीं मिल सकता। यह पूर्ण संशयवाद की स्थिति है; क्योंकि इसके तहत ज्ञान का कोई भी क्षेत्र संदेह से परे नहीं रह जाता है। ऐसी दशा में किसी भी विषय पर कोई मत या सिद्धांत भी कायम नहीं किया जा सकता।

परंतु ऐसा सर्वग्राही संशयवाद वस्तुतः व्यावहारिक रूप में दुर्लभ है और सैद्धांतिक रूप से अचिन्त्य है। जब संशय सर्वसमावेशी हो तो उसके प्रहार से खुद संदेहवाद भला कैसे बच सकता है। इसलिए अधिकतर संशयवादी अपने सिद्धांत को क्षेत्र–विशेष तक सीमित रखने के पक्षघर हैं।

(ग) संदेहवाद के कुछ रूपों में ज्ञान के विषय–पक्ष की आलोचना की प्रधानता रही है, जबकि कुछ अन्य रूपों में ज्ञान के प्रचलित विधि–पक्ष पर प्रहार किया गया है। इस दृष्टि से संशयवाद के दो प्रमुख प्रकार मिलते हैं:

(1) विधि–संबंधी संदेहवाद

(2) विषय–संबंधी संदेहवाद

कई संदेहवादियों ने ज्ञानार्जन में प्रयुक्त होने वाली खोज की विधियों की विश्वसनीयता पर गंभीर प्रश्न खड़े किए हैं। फलतः उनके चिन्तन में विधिमूलक संशयवाद उभरकर सामने आता है। अपने चरम रूप

में ऐसे संशयवाद के अनुसार ज्ञान प्राप्ति की कोई अचूक (infallible) विधि नहीं हो सकती। हरेक विधि कभी–न–कभी विफल सिद्ध होती है। इसलिए विधिमूलक संशयवाद का एक संयत या नरम रूप कहीं अधिक मान्य और प्रचलित है। इस संयत मत के अनुसार ज्ञानार्जन की प्रक्रिया में हमें सावधानीपूर्वक और चयनात्मक तरीके से विश्वास कायम करना चाहिए।

विषय–संबंधी संशयवाद में कुछ विशेष प्रकार के विषयों के ज्ञान को असंभव या उसकी संभावना को सीमित माना गया है। ये अधिकतर ऐसे विषय हैं जो परंपरा से परिकल्पनात्मक चिन्तन और तत्त्वमीमांसीय परिचर्या के केन्द्र में रहे हैं। उदाहरणार्थ, कतिपय ऐसे विषय हैं– वस्तु–तथ्य, भौतिक और मानसिक द्रव्य, आत्म और ईश्वर, भूत और भविष्य, नैतिक और धार्मिक, विषय, तात्त्विक सत्ता, कारणता आदि।

दर्शन के इतिहास में विधिमूलक संशयवाद के वास्तविक उदाहरण बड़े ही रोचक और विविधतापूर्ण हैं। बुद्धिवादियों को इंद्रियों के ज्ञान प्राप्ति की क्षमता पर भरोसा नहीं है। उनके अनुसार बुद्धि हमारे लिए ज्ञानप्राप्ति का एक मात्र साधन है और बुद्धि हमें सार्वभौम और अनिवार्य ज्ञान प्रदान करने में सक्षम है। मानवीय बुद्धि के ज्ञान–सामर्थ को लेकर बुद्धिवादी इतने आश्वस्त हैं कि उन्हें संदेहवाद कोई वास्तविक या गंभीर समस्या नहीं जान पड़ता।

लेकिन अनुभववादियों के अनुसार बुद्धिजन्य ज्ञान निरे आकारिक और विश्लेषणात्मक होते हैं। इसलिए वे निश्चयात्मक तो हो सकते हैं परंतु उनसे कोई नवीन तथ्य की जानकारी नहीं मिलती। अनुभववादी दृष्टि से तथ्यात्मक जानकारी हमें अनुभव से मिल सकती है; किन्तु ऐसा ज्ञान संभाव्य और कामचलाऊ ही हो सकता है, निश्चित नहीं।

डेकार्ट अपने दार्शनिक चिन्तन का आरंभ संदेह–विधि से करते हैं। उनका आरंभिक संदेह विधिमूलक संदेहवाद का एक विशिष्ट रूप है। मानवीय ज्ञान के उत्स में जो संशयात्मक प्रवृत्ति स्वभावतः दृष्टिगोचर होती है डेकार्ट ने उसका भरपूर उपयोग किया। परंतु उन्होंने आरंभिक संदेह को अंत तक हावी नहीं होने दिया। दरअसल डेकार्ट का संदेहवाद युक्तिमूलक और अल्पप्रभावी (tactical) है; वह मात्र प्रारंभिक है, अंतिम नहीं। इसके विपरीत ह्यूम का संशयवाद उनके अनुभववाद का तार्किक परिणाम माना जाता है।

(घ) ज्ञान की संभावना और उसकी प्रामाणिकता दोनों के बारे में संदेहवादियों के द्वारा प्रश्न खड़े किए गए हैं। इस दृष्टि से संदेहवाद के दो व्यापक रूप देखने को मिलते हैं :

(1) ज्ञान–संबंधी संदेहवाद

(2) प्रामाणिकता–संबंधी संदेहवाद

उग्र रूप में ज्ञान–संबंधी संशयवाद के अनुसार हमें किसी भी विषय में कोई ज्ञान नहीं है और हमें ज्ञान मिल भी नहीं सकता। किसी भी तरह का असंदिग्ध ज्ञान मानव की पहुँच से परे है। परंतु ज्ञान–संबंधी संशयवाद का एक नरम रूप भी है जो कि कहीं अधिक प्रचलित रहा है। इस रूप में संशयवाद ज्ञान की संभावना को पूरी तरह से अस्वीकार नहीं करता, बल्कि उसे खुला छोड़ देता है। तथापि इसके अनुसार मानवीय ज्ञान यदि संभव है भी तो वह अत्यल्प या सीमित है।

प्रामाणिकता–संबंधी संशयवाद के अनुसार किसी भी विषय में हमारा ज्ञान कभी भी प्रामाणिक रूप से निश्चायक नहीं हो सकता। हमारे अधिकतर विश्वास जिन्हें ज्ञान का निर्णायक माना जाता है वे संदेह से परे नहीं होते हैं। जिन तथ्यों या साक्ष्यों के आधार पर हम किसी विषय पर ज्ञान होने का दावा करते हैं वे वास्तव में अकाट्य या अखण्डनीय नहीं होते हैं।

ध्यातव्य है कि किसी ज्ञानमूलक दावे के पक्ष में हमारे पास कमोबेश ठोस साक्ष्य हो सकते हैं, परंतु पूर्णतया निश्चायक कतई नहीं। किसी भी मामले में साक्ष्यों की शृंखला अंतहीन हो सकती है। प्राश्निकता सदैव प्रासंगिक होती है। प्रमाणीकरण एक सतत् प्रक्रिया है और इसका अंतिम तौर पर निर्धारण प्रायः असंभव होता है।[6]

(ङ) संशयवादी चिन्तन बहु–स्तरीय हो सकता है। संशयवादी मतों के मध्य श्रेणीगत विभिन्नता हो सकती है। इस दृष्टि से संशयवाद के दो मुख्य रूप उल्लेखनीय हैं :

(1) प्रथम–श्रेणिक संशयवाद

(2) द्वितीय–श्रेणिक संशयवाद

साधारणतया संशयवाद प्रथम–श्रेणिक होता है। प्रथम–श्रेणिक संशयवाद का सरोकार ऐसे विश्वासों या ज्ञान से होता है जो अनुभव या बुद्धि पर आधारित होते हैं। जैसे कि मैं इस पर संदेह कर सकता हूँ कि मैं अभी एक पुस्तक पढ़ रहा हूँ भले ही हमें वैसा अनुभव हो रहा है।

परंतु संशयग्रस्त मनोदशा अक्सर बड़ी जटिल होती है। संशयवाद इससे भी उच्चतर स्तर पर घटित हो सकता है। इसे द्वितीय–स्तरीय संशयवाद कहते हैं और दार्शनिक दृष्टि से यह अधिक रोचक है। द्वितीय–स्तरीय संशयवाद का सरोकार ऐसे विश्वास या ज्ञान से होता है जो खुद सीधे अनुभव या बुद्धि से जनित विश्वासों या ज्ञान के परिणाम होते हैं।

प्रथम–श्रेणिक संशयवाद की परिणति द्वितीय–श्रेणिक संशयवाद में होती है। यदि ऐसा माना जाय कि अनुभव या बुद्धि जैसे साधनों से कोई भी प्रथम–श्रेणिक ज्ञान प्राप्त करना वास्तव में संभव नहीं है तो फिर द्वितीय–श्रेणिक संशयवाद अवश्यंभावी हो जाता है।

लेकिन एक द्वितीय–श्रेणिक संदेहवादी यह भी मान सकता है कि यद्यपि हमें प्रथम–श्रेणिक ज्ञान होता है परंतु कईयों को या अधिकतर लोगों को इसका ज्ञान नहीं है।[7] सुकरात को प्राचीन यूनान में सबसे ज्ञानवान व्यक्ति माना जाता था परंतु वह खुद अक्सर कहा करता था कि वह कुछ नहीं जानता, और वह दूसरों से अधिक बुद्धिमान केवल इस बात को लेकर है कि वह बखूबी जानता है कि वह कुछ नहीं जानता। हालाकि सुकरात ज्ञान को असंभव और अलभ्य नहीं मानता था।

3. संशयवाद और कुछ अन्य तुलनीय सिद्धांत :

संशयवाद से कमोबेश मिलते–जुलते कुछ ऐसे दार्शनिक सिद्धांत हैं जिनसे उसके साम्य–वैषभ्य की संक्षिप्त चर्चा यहाँ अपेक्षित है। ऐसी तुलना के आधार पर संशयवाद के मर्म और निहितार्थों को गहरे जाकर समझा जा सकता है।

(क) संशयवाद और हठवाद :

हठवाद एक ऐसी चरमपंथी अभिवृत्ति है जिसे प्रायः संदेहवाद का धुरविरोधी माना जाता है। संदेहवादी दृष्टि से मानवीय ज्ञान कई तरह से सवालों के घेरे में है, जबकि हठवादी के लिए हमारे ज्ञान की संभावना को लेकर कोई समस्या ही नहीं है। मानव के ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता और सीमा को एक हठवादी सवालों और संदेहों से परे मानता है। उदाहरणार्थ, जैसा कि कांट ने बतलाया है कि लाइवनित्स और वोल्फ ने जिस तरह रूढ़िवादी तरीके से बुद्धिवाद की वकालत की है वह हठवाद का प्रतिनिधित्व करता है।

कांट ने यह दर्शाया है कि संशयवाद अपने तमाम तीखे सवालों के बावजूद हठवाद का विकल्प नहीं हो सकता है। उसके मतानुसार असली मकसद तो आलोचनात्मक दर्शन है, या यों कहें कि आलोचनात्मक चिन्तन दर्शन का सार है। परंतु हठवादी के चिन्तन में आलोचना के लिए कोई अवकाश नहीं होता, भले ही उसका पक्ष तार्किक तौर पर कितना ही त्रुटिपूर्ण क्यों न हो। हठवादी मानो आँख मूँदकर अपनी बात को सत्य मानता है– वह अपने विवेक का उपयोग नहीं करता; क्योंकि बुद्धि के वास्तविक ज्ञान–सामर्थ्य तक उसकी आलोचनात्मक दृष्टि की गति नहीं होती।

संशयवाद ज्ञान की संभावना और सीमाओं को लेकर ऐसे गंभीर प्रश्न खड़े करता है जिन्हें नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। ऐसी प्राश्निकता से काफी हद तक आलोचनात्मक चिन्तन को बढ़ावा मिलता है। मर्यादित संशयवाद में किसी विषय में निर्णय को स्थगित करके सभी पूर्वमान्यताओं और निष्कर्षों पर सवाल खड़े किए जाते हैं ताकि आलोचनात्मक विश्लेषण की कसौटी पर उनका औचित्य सिद्ध किया जा सके। ऐसा सीमित संशयवाद दार्शनिक चिन्तन को पूर्वाग्रह और हठवाद से बचाने में सहायक है।

परंतु संशयवाद के साथ विकट समस्या तब पैदा होती है जब वह उग्र या चरम रूप धारण कर लेता है। उग्र संदेहशीलता की परिणति हठवादी संशय की प्रवृत्ति में होती है। रसेल के मतानुसार दार्शनिक संदेहवादी अंततः हठवादी हो ही जाता है, क्योंकि वह मानता है कि कोई भी व्यक्ति कुछ नहीं जानता और न ही वह कुछ जान सकता है।[8] इसलिए रसेल का मत है कि हठवाद और संशयवाद दोनों ही निरपेक्ष दर्शन हैं: पहला जानने को लेकर पूर्णतया आश्वस्त होता है और दूसरा हमारे नहीं जानने के बारे में।[9]

(ख) संशयवाद और अज्ञेयवाद :

संशयवाद और अज्ञेयवाद दोनों ही मानवीय ज्ञान की सीमा से संबंधित सिद्धांत हैं। दोनों ही ज्ञान की सीमा का अपने–अपने तरीके से विश्लेषण करते हैं और प्रायः नकारात्मक निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। परंतु दोनों के लक्ष्य और निहितार्थों में महत्त्वपूर्ण अंतर हैं।

संदेहवादी सामान्यतया मानता है कि किसी भी विषय में निश्चयात्मक ज्ञान संभव नहीं हैं। संदेहवाद में मानव का ज्ञान–समर्थ्य ही

संदेह के घेरे में आ जाता है। प्रश्नभरी मनोवृत्ति संशयवादी पर इस कदर हावी रहती है कि वह सहज ही किसी विषय पर विश्वास नहीं कर पाता। अतिशय संशय से अनास्था को बढ़ावा मिलता है।

'अज्ञेयवाद' के अंग्रेजी पर्याय 'ऐग्नॉस्टिसिज्म' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम टी.एच.हक्सले ने उन व्यक्तियों के दार्शनिक और धार्मिक अभिवृत्ति को अभिव्यक्त करने के लिए किया था जिनका मानना था कि तत्त्वमीमांसीय विषय खण्डन–मण्डन से परे होते हैं। अज्ञेयवादी साधारणतया मानता है कि कतिपय विशेष विषयों या तत्त्वों तक मानवीय ज्ञान की गति नहीं है। उदाहरणार्थ, ईश्वर, परमतत्त्व आदि को हम पूर्णतया नहीं जान सकते; वे अज्ञेय हैं। यहाँ उनके अज्ञेय होने को लेकर हम संदेहशील नहीं हैं– उनकी अज्ञेयरूपता को हम बखूबी जानते–समझते हैं। अतः अज्ञेयवादी मानवीय ज्ञान की सीमा के बारे में शंकालु कतई नहीं है।

परंतु यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि कुछ विषय सचमुच अज्ञेय हैं तो फिर उनके अज्ञेय–रूप का ज्ञान कैसे होता है? इस पर कहा जा सकता है कि ऐसे विषयों का भले ही हमें पूरा ज्ञान नहीं मिलता किन्तु हमें उनका भान होता है। हम जानते हैं कि 'कुछ है' भले ही हमें विस्तृत जानकारी नहीं होती कि वह 'क्या है'।

संशयवाद एक दृष्टि से अज्ञेयवाद की ओर अग्रसर होने का सोपान हो सकता है। ह्यूम के संदेहवाद ने हठवादी निद्रा में पड़े कांट को झकझोर कर जगा दिया। कांट के मतानुसार वास्तविक ज्ञान गणित और विज्ञान तक सीमित है। इनसे परे ईश्वर, अमरता जैसे अतीन्द्रिय विषयों का हमें वैज्ञानिक ज्ञान नहीं हो सकता। हम यह भी नहीं जान सकते कि वस्तुएँ अपने–आपमें कैसी हैं। इस तरह कांट के अनुसार आलोचनात्मक दर्शन की परिणति अज्ञेयवाद में होती है।

अज्ञेयवाद न तो संदेहवाद है और न ही निरीश्वरवाद। अज्ञेयवाद शून्यवाद भी नहीं है। अज्ञेयवादी तो तात्त्विक और आध्यात्मिक विषयों को वैज्ञानिक ज्ञान नहीं अपितु आस्था का विषय मानता है। संदेहवादी के हठ के चलते जो आस्था का संकट पैदा होता है अज्ञेयवादी उसकी भरपायी विश्वास को बढ़ावा देकर करना चाहता है।

(ग) संशयवाद और अनुभववाद :

इस संबंध में मुख्यधारा का मत यह है कि अनुभववाद की परिणति

आवश्यक रूप से संशयवाद में होती है। इसके पक्ष में कई दमदार दलीलें दी जाती हैं। यदि अनुभव ज्ञान का एकमात्र साधन है, जैसा कि अनुभववाद की मूल स्थापना है, तो फिर संशयवाद का परिहार करना दुष्कर है। अनुभव हमेशा व्यक्तिगत और सीमित होता है। अनुभव कुछ विशेषों का होता है, सामान्य का नहीं। किसी अनुभवकर्त्ता का अनुभव–सामर्थ्य देश और काल की दृष्टि से बड़ा ही सीमित होता है। कोई भी अनुभवकर्त्ता अनन्त देश–काल के एक अत्यंत सीमित खंड में से चंद उदाहरण विशेषों को ही जान सकता है। आनुभविक ज्ञान का विपरीत सोचने पर हमारे विचारों में कोई आत्मविरोध भी पैदा नहीं होता। इसलिए अनुभवजन्य ज्ञान अनिवार्य और असंदिग्ध नहीं हो सकता।

लॉक, बर्कले और ह्यूम के दर्शन में जिस तरह अनुभववादी विचारधारा का क्रमिक विकास हुआ उससे भी इस मत को बल मिला कि अनुभववाद हमें अपरिहार्य रूप से संशयवाद की ओर ले जाता है। लॉक की अपेक्षा बर्कले के यहाँ संशयवाद अधिक संगत बना। फिर ह्यूम ने अनुभववाद को और भी अधिक मुखर और संगत बना दिया। परंतु यह परिणति संदेहवादी है, इसलिए यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि ह्यूम का संदेहवाद लॉक के अनुभववाद की तार्किक निष्पत्ति है।

वास्तव में संशयवाद से अनुभववाद का रिश्ता इससे कहीं अधिक जटिल और रोचक रहा है। यह कहना स्थिति का सरलीकरण मात्र है कि अनुभववाद की अपरिहार्य परिणति संशयवाद में होती है। सच्चाई यह है कि अधिकतर अनुभववादियों ने संशयवाद के विरूद्ध अनुभवजन्य ज्ञान का बचाव ही किया है– आलोचनात्मक दृष्टि से, न कि हठवादी तरीके से। यह ठीक है कि अनुभवेतर ज्ञान के साधनों और अनुभवातीत विषयों के प्रति वे शंकाशील रहे हैं। ऐसा संदेह उनकी मूलभूत स्थापना के मद्देजर असंगत भी नहीं है।

ह्यूम का दर्शन इसका अच्छा उदाहरण है। ह्यूम आत्यंतिक संदेहवादी नहीं है। ज्ञान के कुछ विशेष क्षेत्रों में जहाँ प्रत्ययों के बीच संबंधों के आधार पर निष्कर्ष निकाले जाते हैं वहाँ ह्यूम भी असंदिग्ध ज्ञान की संभावना को इनकार नहीं करते। परंतु वस्तु–तथ्य के विषय में वे ऐसा ज्ञान संभव नहीं मानते। तथ्यात्मक ज्ञान अनुभव से ही मिल सकता है और इनके विषय में हम केवल संभाव्य ज्ञान से ही संतोष कर सकते हैं।

एक दृष्टि से अनुभववाद हमें एक सुलझे हुए आलोचनात्मक संदेहवाद की ओर ले जा सकता है। ह्यूम की दृष्टि से एक सुलझा हुआ संशयवादी वह है जो अपने तीक्ष्ण आलोचनात्मक विश्लेषण को सैद्धांतिक स्तर तक सीमित रखता है और व्यावहारिक जीवन में नैसर्गिक विश्वास पर भरोसा करता है। वह अपने जीवन–दर्शन को विनम्रतापूर्वक मौलिक मानव प्रकृति पर आधारित करता है। ह्यूम चरम संशयवाद के वरण का संदेश नहीं देता, वरन उसका उपदेश है– 'दार्शनिक बनो, बौद्धिक चिन्तक बनो, परंतु मनुष्य भी बने रहो'।[10]

(घ) संशयवाद और सापेक्षिकतावाद :

संदेहवाद और सापेक्षिकतावाद कुछ बुनियादी बातों की साझेदारी करते हैं। दोनों ही सिद्धांत ज्ञान को व्यक्ति और परिस्थिति सापेक्ष मानते हैं, इसलिए दोनों के अनुसार अनिवार्य और सार्वभौम ज्ञान की संभावना क्षीण या लुप्तप्राय हो जाती है।

इस दृष्टि से सापेक्षिकतावाद से संशयवाद का पक्षपोषण हो सकता है। प्राचीन यूनान में कई सोफिस्ट विचारक सापेक्षिकतावाद के आधार पर ही संशयवाद की ओर प्रवृत्त हुए। उनका मानना था कि सभी सत्यता आपेक्षिक होती है, अतः किसी भी विषय पर सत्यता की कोई वस्तुनिष्ठ और सर्वमान्य अवधारणा नहीं बन सकती। जो एक व्यक्ति को सत्य मालूम होता है वह उसके लिए सत्य है, और जो दूसरे व्यक्ति को सत्य जान पड़ता है वह उस दूसरे के लिए सत्य है।

सापेक्षिकतावाद और संशयवाद में वैसा कोई सार्वभौम आदर्शरूप सोचने वाला ज्ञाता अकल्पनीय है जैसा कि डेकार्ट ने परिकल्पित किया था। यहाँ तो व्यक्तिवादिता और व्यक्ति विचित्रता की प्रधानता है। प्रोटागोरस ने जब मानव को सब चीजों का मापदण्ड घोषित किया तो उसका अभिप्राय था कि हरेक मनुष्य व्यक्तिगत स्तर पर ही सभी चीजों का मापदण्ड है। इसलिए भिन्न–भिन्न व्यक्तियों के बीच मतविभिन्नता की स्थिति में सत्यता की कोई सार्वजनिक व सर्वमान्य कसौटी निर्धारित नहीं की जा सकती।

संशयवाद और सापेक्षिकतावाद के बीच कुछ सूक्ष्म विभेद भी हैं। सापेक्षिकतावाद के अनुसार सत्यता की निरपेक्ष अवधारणा न संभव है और न ही वांछनीय। परंतु इसका मतलब ऐसा नहीं है कि मानवीय ज्ञान नितांत असंभव है या जो भी ज्ञान प्राप्य है वह हमारे लिए किसी काम का नहीं है।

सापेक्षिकतावाद में सार्वभौम और अनिवार्य ज्ञान के फेर में न पड़कर इस बात पर जोर होता है कि जो सापेक्षिक ज्ञान प्राप्त है वह मानव के लिए पर्याप्त और अभीष्ट है। सापेक्षिकतावाद इस रूप में संशयवाद के विध्वंसकारी प्रभाव के परिहार की एक कारगर विधा हो सकती है।

व्यावहारिक जीवन में भी जनसाधारण प्रायः किसी विषय पर कठोर और तार्किक अर्थ में ज्ञान का दावा नहीं करते। तमाम तरह के संशय की संभावनाओं के बावजूद जो कुछ वह जानता है उस पर उसे विश्वास जरूर होता है। परंतु वह अपने नजरिए को अधिकतर सापेक्षिक रूप से ही दूसरों के साथ साझा करता है, न कि अकाट्य निरपेक्ष सत्य के रूप में।

(ङ) संशयवाद और उत्तराधुनिकतावाद :

उत्तराधुनिकतावाद को प्रायः संशयवाद के एक विशेष प्रकार के रूप में वर्णित किया जाता है। एक दार्शनिक आंदोलन के रूप में उत्तराधुनिकतावाद सामान्यतया प्राधिकार, ज्ञान–परंपरा, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक मानकों आदि के प्रति संदेहवादी रूख अख्तियार करता है।[11]

संशयवाद की भाँति उत्तराधुनिकतावाद भी आधारिकतावाद का घोर विरोधी है। चाहे ज्ञान–विज्ञान हो या फिर सामाजिक–राजनीतिक व्यवहार, हर क्षेत्र में ये दोनों सिद्धांत किसी भी तरह के ठोस आधार (फाउन्डेशन) के प्रति गहरे संदेहशील रहे हैं। इनके अनुसार हमारे विश्वासों और विचारों की प्रणाली के मूल में कोई निरपेक्ष या ठोस आधार नहीं हो सकता। मानवीय ज्ञान हमेशा तर्कबुद्धि से निर्धारित या निर्देशित नहीं होता। इसलिए ज्ञान और सत्यता की कोई भी ऐसी कसौटी निर्धारित नहीं की जा सकती जो अनिवार्य और सार्वभौम हो।

संशयवाद और उत्तराधुनिकतावाद दोनों ही सारवाद (एसेंसियलिज्म) के भी विरोधी हैं। इनके अनुसार किसी भी विषय में कोई सारभूत सत्य नहीं होता। मानवीय ज्ञान सापेक्षिक रूप से ही सत्य हो सकता है। इसलिए संपूर्णतावादी उपागम और व्याख्याएँ बेमानी हैं।

उत्तराधुनिकतावाद के अनुसार सत्यता की सार्वभौमिक कसौटी की खोज का अब कोई औचित्य नहीं रह गया है–जीवन और जगत् की एकसूत्री व्याख्या का दावा करने वाले परंपरागत वादों और सिद्धांतों के दिन लद चुके हैं। उत्तराधुनिकता के उदय के पश्चात् वे अपनी विश्वसनीयता खो चुके हैं; उनके लिए अब स्थिति अतिशय संशयभरी है। इसलिए ल्योतार इस

उत्तराधुनिक स्थिति को महागाथाओं के प्रति अविश्वसनीयता (इनक्रेडुलिटी टुवार्डस मेटानैरेटिव्स) के रूप में परिभाषित करते हैं।[12]

दरअसल हमारे समय में कम्प्यूटर आधारित सूचना क्रांति और सिम्युलेशन के फलस्वरूप संशयवाद का एक नया अवतार उभरकर सामने आया है। संशयवाद के पक्ष की व्याख्या करने के लिए डेकार्ट ने धूर्त दैत्य की परिकल्पना की थी जिसे आगे 'ब्रेन–इन–वाट' के रूप में आधुनिक विकसित वैचारिक प्रयोग का रूप दिया गया। संशयवाद के समर्थन में वैचारिक प्रयोग के उत्तराधुनिक संस्करण के रूप में कम्प्यूटर सिम्युलेशन को प्रस्तुत किया जाता है। इस सिम्युलेशन प्राक्कल्पना के अनुसार हम यह नहीं जान सकते कि हम वास्तव में सिम्युलेशन में नहीं जी रहे हैं।[13]

कम्प्यूटर सिम्युलेशन से जो आभासी दुनिया (वर्च्युअल वर्ल्ड) निर्मित होती है उसकी सत्तामीमांसीय प्रस्थिति को कुछ विचारक एक विचारोत्तेजक प्राक्कल्पना भर मानते रहे हैं। परंतु कंप्यूटर विज्ञान और तकनीक में चमत्कारिक विकास के साथ इसे एक ऐसे गंभीर प्राक्कल्पना के रूप में लिया जा रहा है जिसे यों ही दरकिनार नहीं किया जा सकता। बोद्रिलार्ड के मतानुसार इस उत्तराधुनिक युग में सत् और सिम्युलेशन के मध्य विभेद करना संभव नहीं है। यह सत्योत्तर (पोस्ट–ट्रुथ) युग है जहाँ सत्यासत्य का विभेद मिट–सा गया है।

एक दृष्टि से उत्तराधुनिकतावादी दर्शन को संशयवाद के अद्यतन संस्करण के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। इस रूप में उत्तराधुनिकतावाद का सरोकार खुद का अपना कोई सकारात्मक सिद्धांत प्रतिपादित करने से कहीं अधिक अन्य सिद्धांतों और उनके सत्यता संबंधी दावों को अस्थिर करना है।[14] यह वैचारिक रणनीति संशयवाद के मेल में है।

4. संदेहवादी युक्तियाँ :

विचारों के इतिहास में संशयवाद का प्रभाव जितना उसकी दार्शनिक स्थापनाओं के कारण रहा है उससे कहीं अधिक उन विचारोत्तेजक युक्तियों के चलते है जिन्हें संदेहवादियों ने समय–समय पर प्रस्तुत किए हैं। संशयवाद का मूल मंतव्य ही खण्डनात्मक है क्योंकि सामान्यतया संदेहवादियों के अनुसार ज्ञान संभव नहीं है। इसलिए संशयवाद में मण्डन–पक्ष की अपेक्षा खण्डन–पक्ष की प्रधानता रही है। किसी भी मत के प्रतिपादन में खण्डन–पक्ष प्रायः युक्ति–प्रधान होता है, और उसका प्रभाव और महत्त्व

इस बात पर निर्भर करता है कि उसकी युक्तियाँ कितनी सशक्त हैं। अतएव संशयवादियों की मुख्य युक्तियाँ खास तौर पर काबिलेगौर हो जाती हैं।

(क) व्यक्तिनिष्ठ मानदण्ड की समस्या :

प्रसिद्ध सोफिस्ट विचारक प्रोटागोरस का मत है कि मानव सब चीजों का मापदण्ड है। परंतु मानव से प्रोटागोरस का अभिप्राय व्यक्ति विशेष है, न कि सामान्य मानव जाति। अतः मानव मात्र के लिए ज्ञान का कोई सामान्य मापदण्ड नहीं हो सकता। इंद्रियानुभव व्यक्तिनिष्ठ और सापेक्षिक होता है। हर एक व्यक्ति अपने–अपने स्तर पर चीजों का मापदण्ड है। इसलिए जब लोगों के बीच किसी विषय को लेकर मतविभिन्नता होती है तो कोई ऐसी वस्तुनिष्ठ सत्यता भी नहीं हो सकती जिसके आधार पर एक को सही और दूसरे को गलत ठहराया जा सके। इसलिए व्यक्तिनिष्ठ मापदण्ड की धारणा की परिणति संदेहवाद में होती है।

प्रोटागोरस की यह युक्ति मानवीय बुद्धि की सीमा और इंद्रियों की अविश्वसनीयता पर आधारित है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'ऑन द गॉडस' के प्रारंभ में ही लिखा है : ''देवताओं के संबंध में मैं निश्चितता महसूस नहीं करता कि वे हैं या नहीं हैं, यह भी नहीं कि उनका आकार कैसा है; क्योंकि ऐसी चीजें हैं जो निश्चित ज्ञान को अवरूद्ध करती हैं, जैसे कि विषय का दुर्बोध होना और छोटा–सा मानव जीवन।''[15]

(ख) कसौटी की समस्या :

सत्य और असत्य के बीच विभेद करने के लिए कसौटी (Criterion) की आवश्यकता पड़ती है परंतु ऐसी कसौटी का निर्धारण करना एक बड़ी समस्या है। प्राचीन काल से ही इस समस्या को संदेहवाद के पक्ष में एक युक्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया है। सुकरात के समय से ही कई यूनानी विचारकों के लिए महत्वपूर्ण प्रश्नों के विषय में असमंजस की स्थिति में होना कोई असामान्य बात नहीं थी। उनका मानना था कि दार्शनिक वाद–विवाद में किसी एक पक्ष को पूरी तरह से सही ठहराना प्रायः असंभव होता है। ऐसी दशा में जो निर्णयमूलक अनिश्चयता (एपोरिया) उत्पन्न होती है उसके मूल में सत्यता की सर्वमान्य कसौटी का अभाव होता है।

सुकरात कहा करता था कि वह जानता है कि वह कुछ नहीं जानता। उसके इस कथन को प्रायः व्यंग्योक्ति (आयरनी) के रूप में लिया

जाता है। परंतु प्लेटो के एकेडमी के परवर्ती विचारक आर्सेसिलास ने इसे बिना लागलपेट के शाब्दिक अर्थ में लिया। आर्सेसिलास के मतानुसार सुकरात ने अपने जिस अज्ञानता के ज्ञान की बात की उसके मूल में संशयवाद के बीज निहित हैं। इसी परंपरा में कार्नियेडिज ने जोर दिया कि इंद्रियानुभव हमारे विचारों और तर्कों के मूलाधार हैं। परंतु हमारे पास इंद्रिय अनुभवों की सत्यता के निर्धारण की कोई कसौटी नहीं है। इसलिए वाद–विवाद में किसी भी पक्ष में विश्वास या निर्णय करने के लिए कोई निश्चायक कसौटी नहीं हो सकती।[16]

पायरो के अनुसार इंद्रियों से हमें केवल यही पता चलता है कि चीजें कैसी प्रतीत हो रही हैं। संवेदनाएँ हमारे सभी प्रकार के ज्ञान के स्रोत हैं और हम अपने संवेदनों से बाहर जाकर कुछ भी नहीं जान सकते। ऐसी दशा में हम यह भी नहीं जान सकते कि हमारी संवेदनाएँ सचमुच वैसी ही हैं जैसी कि वस्तुएँ अपने मूल स्वरूप में हैं। इस तरह पायरो के मतानुसार हमारे पास सत्य और असत्य के बीच विभेद करने के लिए कोई पुख्ता कसौटी नहीं है।[17] ऐसी कोई कसौटी अनुभवसिद्ध नहीं हो सकती। तब क्या तर्कबुद्धि और निगमन विधि के आधार पर हमें सत्यता की कोई कसौटी मिल सकती है? पायरो के शिष्य टिमोन ने इस पर गहरे जाकर विचार किया है।

टिमोन ने निगमनात्मक दृष्टि के संशयवाद के पक्ष में एक सशक्त युक्ति प्रस्तुत की है। दरअसल निगमनात्मक तर्कणा को मूलतः एक यूनानी खोज माना जाता है[18], और यूनानी विचारक सामान्यतया निगमन विधि पर अतिशय भरोसा करते थे। उनके चिन्तन का प्रस्थान बिन्दु प्रायः कुछ सामान्य सिद्धांत होते थे जिन्हें वे स्वतःसिद्ध मानकर निगमनात्मक तरीके से आगे बढ़ते थे। परंतु टिमोन के अनुसार ऐसे किसी स्वतःसिद्ध सिद्धांत को खोज पाना वास्तव में असंभव है। हरेक विचाराधीन विषय को हमें किसी अन्य चीज के सहारे ही सिद्ध करना पड़ता है। फलतः हमारी समस्त युक्तियाँ या तो चक्राकार हो जाती हैं या फिर इस सिलसिले में एक अंतहीन श्रृंखला चल पड़ती है। दोनों ही स्थितियाँ तार्किक दृष्टि से असंतोषजनक हैं। पहली दशा में हमारा सारा चिन्तन चक्रक दोष से ग्रस्त हो जाता है और दूसरी दशा में अनवस्था दोष से।[19]

आधुनिक युग में माइकल डि मान्तेन ने कसौटी की समस्या का सुन्दर सूत्रीकरण प्रस्तुत किया है। मान्तेन के अनुसार– 'वस्तुओं के

प्रतीयमान रूपों को लेकर सत्य और असत्य का निर्णय करने के लिए हमारे पास प्रामाणिक युक्ति का होना भी आवश्यक है; परंतु ऐसी युक्ति की वैधता को निर्धारित करने के लिए हमें पुनः उसी विभेदकारी पद्धति की जरूरत पड़ जाती है। और, इस तरह हमारे समूचे चिन्तन की गति चक्राकार हो जाती है'।[20]

मान्तेन ने दर्शन, विज्ञान और धर्मशास्त्र में इंद्रियानुभव और तर्कबुद्धि पर आधारित ज्ञानमूलक दावों के विरूद्ध संदेहवादी युक्तियाँ प्रस्तुत की। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि किसी भी सत्यता को स्वीकार करने के पूर्व सत्य ज्ञान की कसौटी का निर्धारण कर लेना अत्यावश्यक है। परंतु चूँकि हमें ऐसी कोई अचूक कसौटी नहीं मिल सकती, इसलिए हम अधिक–से–अधिक अपने ज्ञानमूलक निर्णयों को स्थगित ही कर सकते हैं, और ईश्वर से हमें जो सत्य मिला है उसी पर संतोष करना चाहिए। इस तरह मान्तेन ने अपने संशयवाद की क्षतिपूर्ति धार्मिक आस्था के बल पर करने की कोशिश की।

आगे चलकर डेकार्ट ने ज्ञान की एक ऐसी कसौटी के प्रतिपादन करने का प्रयास किया जो सत्यता को स्पष्ट एवं परिस्पष्ट (Clear and distinct) रूप से उजागर कर दे। उसके मतानुसार '' मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ'' (Cogito ergo sum) सभी संदेहों से परे है। डेकार्ट की दृष्टि में यह एक ऐसा स्पष्ट और परिस्पष्ट ज्ञान है जो कि सत्यता की कसौटी के रूप में स्वीकार्य है। परंतु तार्किक दृष्टि से डेकार्ट द्वारा प्रतिपादित सत्यता की कसौटी भी निर्दोष और निरापद नहीं है।

(ग) भूल और भ्रांति पर आधारित युक्ति :

एक दृष्टि से मानवीय ज्ञान–प्रक्रिया के मूल में ही संशय के बीज निहित हैं। प्रश्न उठता है कि ज्ञान में जो सद्यः प्रदत्त होता है और जिसे वास्तव में जानने का दावा किया जाता है उन दोनों के बीच संवादिता की क्या गारंटी है? मानवीय ज्ञान की ऐसी मूलभूत समस्याओं की एक विशिष्टता यह है कि उनकी शुरूआत ही संशयवादी रूपों में होती है। इसका मूल कारण यह है कि वास्तविक साक्ष्य और हमारे ज्ञान के दावे के बीच एक बड़ी खाई होती है। फलतः हमारे ज्ञान में सद्यः प्रदत्त और ज्ञानमूलक दावे के बीच एक तरह का द्वंद्व पैदा हो जाता है।

ज्ञान में जो प्रदत्त होता है उसे ही हम सीधे तौर पर जानते हैं और इसलिए ऐसे सद्यः प्रदत्त को साक्ष्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। उदाहरणार्थ, ऐंद्रिय संस्कार, सद्यः अनुभूतियाँ इत्यादि साक्ष्य के अंतर्गत गिने जाते हैं। परंतु समस्या यह है कि इनसे काफी आगे बढ़कर अक्सर ज्ञानमूलक दावे किए जाते हैं। जैसे कि भौतिक और आध्यात्मिक द्रव्य, अतीत और भविष्य की घटनाएँ, प्रकृति के नियम, कारणता, अन्य मन आदि को जानने का दावा किया जाता है।

ध्यातव्य है कि उपलब्ध साक्ष्य से परे जाकर चीजों को उनके वास्तविक स्वरूप में जानने की इच्छा हमारी जिज्ञासा का अभिन्न अंग है परंतु जिस वस्तुस्थिति से हमारा सामना होता है उसके मद्देनजर तो यह एक तरह की ज्ञानमीमांसीय महात्त्वाकांक्षा ही ठहरती है। हमारी ऐसी जिज्ञासा कितनी ही बद्धमूल क्यों न हो, उसके पीछे कोई वास्तविक आधार या तार्किक अनिवार्यता नहीं होती। इस प्रवृत्ति के चलते अक्सर भूल और भ्रांतियाँ पैदा होती हैं। भ्रम और विभ्रम की स्थितियाँ मानवीय ज्ञान सामर्थ्य को सहज ही संदेह के घेरे में ला देती हैं।

उपलब्ध साक्ष्य की उपेक्षा करके हम वास्तविकता और भ्रांति के मध्य विभेद नहीं कर सकते। तब हम यह नहीं बतला सकते कि कौन–सा दावा प्रामाणिक है और कौन–सा भ्रामक है। परंतु उपलब्ध साक्ष्य की अनदेखी के चलते हमारे जीवन में भूल–चूक और भ्रांतियाँ घटित होती रहती हैं। ऐसी दशा में मानवीय ज्ञान की समूची महात्त्वाकांक्षी योजना संदेह से परे नहीं रह जाती है।

ऐसी स्थिति में विश्वास का आचारशास्त्र (एथिक्स ऑफ बिलीफ) अहम हो जाता है। विश्वास का आचारशास्त्र पर्याप्त प्रमाण की माँग करता है। जैसा कि विलियम क्लिफोर्ड का मत है– विश्वास की पवित्रता तब भंग हो जाती है जब उसे प्रमाण और प्राश्निकता की उपेक्षा करके किसी विश्वासकर्त्ता के महज निजी संतोष और शांति के लिए स्वीकार किया जाता है। क्लिफोर्ड की प्रसिद्ध उक्ति है : ''अपर्याप्त साक्ष्य के आधार पर किसी चीज पर विश्वास करना हमेशा, हर जगह और हर किसी के लिए गलत होता है।''[21]

(घ) स्वप्नानुभव पर आधारित युक्ति :

दैनिक जीवन में लोग अनेक बातों को सहज ही सत्य मानते हैं

और ऐसे विश्वासों को लेकर ही हमारा लोक–व्यवहार चलता है। उन विश्वासों के पक्ष में हमारे पास इतने सबल साक्ष्य हो सकते हैं कि उनकी सत्यता को लेकर हम आश्वस्त हों। परंतु जैसा कि डेकार्ट ने अपने दार्शनिक चिन्तन के शुरूआत में ही जोर दिया है कि हमारे विश्वास कितने ही निश्चायक क्यों न मालूम पड़ें, ऐसे मामलों में हठवादिता से काम नहीं चल सकता। यदि हमारा ज्ञानमूलक दावा संदेहरहित नहीं है तो उसे हम कैसे वैध या सही ठहरा सकते हैं?

डेकार्ट ने अपने संशयवादी प्रस्थान को एक वैचारिक प्रयोग (थॉट एक्सपेरिमेन्ट) के जरिए बड़े ही प्रभावशाली तरीके से प्रस्तुत किया है। वे एक धूर्त दैत्य की कल्पना करते हैं जो इतना शक्तिशाली और कपटी है कि वह हमें हर तरह से भरमाने और गुमराह करने की क्षमता रखता है। वह धूर्त दैत्य हमें ज्ञान के मामले में भी धोखा देने पर तुला हुआ है। उसके मायाजाल से हमारे जीवन का कोई भी विश्वास अछुता नहीं है। वह दैत्य हमें भरमाये हुए है कि हम जागरित दशा में हैं जबकि वास्तव में हम स्वप्न देख रहे हैं। अनजाने में हम एक प्रायोजित स्वप्न में जी रहे हैं। तर्क के स्तर पर ऐसा सोचने में कोई बेतुकापन नहीं है कि हमारा सारा लोक–व्यवहार प्रपंचमात्र है जो मूलतः स्वप्न में घटित हो रहा है।

दरअसल, यह एक विशेष प्रकार का संदेहवाद है जिसकी शुरूआत एक बुनियादी सवाल से होती है : कैसे कोई यह जान सकता है कि वह वास्तव में स्वप्न नहीं देख रहा है? व्यवहार में हम खुद को एक जीता–जागता इन्सान मानकर चलते हैं क्योंकि ऐसा माने बिना लोक–व्यवहार चरितार्थ नहीं हो सकता। परंतु तार्किक दृष्टि से जागृत और स्वप्न अवस्थाओं के जगत् के बीच विभेद करना युगों से विभिन्न संस्कृतियों में एक गंभीर दर्शनिक समस्या रही है।[22]

परंतु सवाल उठता है कि आखिर किसी के लिए यह जानना क्यों इतना मुश्किल है कि वह स्वप्न नहीं देख रहा है? इसे जानने के लिए उसे कुछ परीक्षणों से गुजरना पड़ेगा। ऐसे परीक्षण में कुछ आनुभविक कार्यविधि सम्मिलित हो सकते हैं। जैसे कि संबंधित ज्ञाता को चिकोटी काटकर यह दर्शाने की कोशिश की जा सकती है कि वह जागरित अवस्था में हैं। परंतु समस्या यह हैं कि ऐसा कोई भी उपक्रम खुद स्वप्न का ही हिस्सा हो सकता है। हम स्वप्न में भी बड़े मजे से ऐसे अनुभव से गुजर सकते हैं जिसे आम

तौर पर जागरित अवस्था के आनुभविक परीक्षण के रूप में समझा जा सकता है।[23]

जागरित अवस्था के किसी अनुभव को सच्चे अर्थों में जानने के लिए पहली पूर्वापेक्षा तो यह है कि संबंधित व्यक्ति सचमुच जागरित हो–वह कोई स्वप्न नहीं देख रहा हो। परंतु इसे सुनिश्चित करना वैचारिक रूप से उतना आसान नहीं होता है जितना कि हमारी सहज बुद्धि मानकर चलती है।

ताओवाद में एक रोचक नीतिकथा मिलती है जिसे संशयवाद की समसामयिक परिचर्चाओं में अक्सर उद्धरित किया जाता है। एक बार झुआनग्जी नामक चीनी दार्शनिक ने सपना देखा जिसमें वह खुद को एक तितली के रूप में उधर–उधर मंडराते हुए पाया। जब वह जागा तो अचरज में पड़ गया – क्या वह एक आदमी था जिसने एक ऐसा सपना देखा जिसमें वह एक तितली बन गया था, या फिर कोई तितली ही कोई सपना देख रही है कि वह एक आदमी बन गयी है?[24]

निहितार्थ यह है कि किसी व्यक्ति को अपनी जागरित अवस्था को पक्के तौर पर जानने के लिए उसे पहले तो पुख्ता परीक्षण प्रक्रिया और उसके परिणाम का ज्ञान होना जरूरी है। परंतु उसके लिए पहले यह जानना आवश्यक है कि वह सचमुच जागरित है, अर्थात् वह कोई स्वप्न नहीं देख रहा है। इस तरह यहाँ हमारे चिन्तन में ही चक्रक दोष पैदा हो जाता है।

(ङ) टंकी–में–मस्तिष्क (Brain-in-a-vat) :

हममें से कोई भी सुनिश्चित तौर पर यह नहीं जानता कि वह एक मस्तिष्क संपन्न स्वतंत्रचेता ज्ञाता है जो वस्तुओं को उनके वास्तविक रूप में ही जानता है। हम वास्तव में यह नहीं जानते कि मानव मस्तिष्क इतना उन्नत और स्वायत्त रीति से सक्रिय होता है कि वह नाना प्रकार के विषयों को स्वतंत्र प्रपंचरहित ढंग से उनके मौलिक रूप में जानता है।

इस प्रसंग में हिलेरी पटनम ने एक अत्यंत रोचक प्राककल्पना प्रस्तुत की है जिसे 'टंकी–में–मस्तिष्क' (ब्रेन–इन–ए–वाट) कहते हैं।[25] यह भी एक तरह का वैचारिक प्रयोग है और इसे डेकार्ट के धूर्त दैत्य वाले दृष्टांत का विकसित रूप माना जाता है। डेकार्ट के धूर्त दैत्य के स्थान पर यहाँ एक सनकी वैज्ञानिक चला आता है जो कि तकनीकी रूप से अधिक जानकार, कुशल और कारगर है।

इस वैचारिक प्रयोग के तहत ऐसा सोचा गया है कि सामान्यतया जिसे एक स्वतंत्र मानव मस्तिष्क समझा जाता रहा है वह तो किसी प्रयोगशाला में जीवन–रक्षक घोल से भरी टंकी में प्लवमान अवस्था में बंद है। आगे इस वैचारिक प्रयोग में टंकी में बंद मस्तिष्क की स्थिति और भी रोचक हो जाती है। उस मस्तिष्क के तंत्रिका तंत्र के तार एक कंप्यूटर से जुड़े हुए हैं। जिसकी कमान एक अत्यंत कुशल किन्तु सनकी वैज्ञानिक के हाथों में है। इस तरह उस मस्तिष्क पर वैज्ञानिक का गहरा प्रभाव और पूरा नियंत्रण है। वह वैज्ञानिक उस मस्तिष्क में जिस तरह का प्रदत्त डालता है और उसकी प्रोग्रामिंग करता है उसमें उसी तरह के विचार और विश्वास, भाव और अनुभव उत्पन्न होते हैं।

वैचारिक प्रयोग की ऐसी स्थिति के बारे में गहराई से सोचने पर हमारी आत्मचेतना को लेकर विश्वास का संकट पैदा हो जाता है। कोई कैसे गारंटी दे सकता है कि उसका सारा ज्ञान और चिन्तन का उपक्रम किसी टंकी–में–बंद मस्तिष्क की नियंत्रित और प्रायोजित गतिविधि भर नहीं है। जैसा कि राबर्ट नॉजिक ने भी इस प्रसंग में लिखा है : 'आप सोचते हैं कि आप इन शब्दों को देख रहे हैं, परंतु कदाचित् आप विभ्रम में तो नहीं पड़े हैं या स्वप्न देख रहे हैं, अथवा आपका मस्तिष्क कुछ इस तरह से उत्तेजित किया गया है जिससे कि आपको कागज पर इन आकृतियों को अंकित देखने का अनुभव प्राप्त हो सके, हालाकि ऐसी कोई चीज वास्तव में आपके समक्ष नहीं है'।[26]

यहाँ कुछ ऐसी सद्यः अनुभूतियों का हवाला दिया जा सकता है जिन्हें प्रायः निर्भ्रान्त समझा जाता है। जैसे कि अभी में एक पुस्तक पढ़ रहा हूँ। कोई दूसरा मुझे चिकोटी काटकर यह एहसास कराने की कोशिश कर सकता है कि यह एक वास्तविक अनुभव है। परंतु वैचारिक प्रयोग की प्राक्कल्पना के अनुसार अभी भी समस्या कायम है। मुमकिन है कि हमारे इस तरह के अनुभव भी उसी कुशल व सनकी वैज्ञानिक द्वारा प्रायोजित प्रपंच का हिस्सा हो। यथार्थ ज्ञान और स्वतंत्र चिन्तन को लेकर हममें कितना ही आत्मविश्वास क्यों न हो, ऐसा कतई असंभव नहीं है कि यह सारा उपक्रम उसी सनकी वैज्ञानिक की पूर्वनिर्धारित योजना के अनुकरण मात्र हो परंतु हम उसकी सारी कारगुजारी से बेखबर हों।

(च) सिम्युलेशन प्राक्कल्पना पर आधारित युक्ति :

परंपरागत संशयवाद में जागतिक–जागरिक साधारण अनुभव की प्रामाणिकता पर स्वप्न और भ्रामक अनुभवों के आधार पर बहुधा प्रश्न खड़े किए गए। मौजूदा कंप्यूटर युग में सिम्युलेशन आधारित आभासी सत् (वर्च्युअल रियालिटी) की अवधारणा ने ऐसी शंका को और भी संश्लिष्ट और व्यापक बना दिया है। जीवन के सूक्ष्म और स्थूल, लघु और विराट हर स्तर पर कंप्यूटर का दखल और असर इस कदर बढ़ता जा रहा है कि हम सिम्युलेशन प्राक्कल्पना को हल्के में नहीं ले सकते। जैसा कि निक बोस्ट्रम का दो–टूक कहना है ''हाँ, हम सिम्युलेशन में हैं; हम कंप्यूटर सिम्युलेशन में जी रहे हैं।''[27]

हिलेरी पटनम और कुछ अन्य ने डेकार्ट के धूर्त दैत्य को आधुनिक युग–चेतना के मेल में सनकी वैज्ञानिक के रूप में अद्यतन कर दिया। फिर इक्कीसवीं सदी के मौजूदा उच्च तकनीक के युग में सिम्युलेशन प्राक्कल्पना कहीं अधिक समीचिन हो गयी है। धूर्त दैत्य और टंकी–में–मस्तिष्क के वैचारिक प्रयोगों में सीमित वैयक्तिक स्तर पर ''सिम्युलेशन'' जैसी स्थिति की कल्पना की गयी। परंतु कंप्यूटर जनित आभासी जगत् (वर्च्युअल वर्ल्ड) बड़े पैमाने पर वैश्विक ''सिम्युलेशन'' का परिचायक है।

यदि हम ''सिम्युलेशन'' के मायाजाल में पड़े हैं तो ज्ञान के प्रति संदेह स्वाभाविक है। बैरी डेन्टान का मत है कि ''सिम्युलेशन'' संशयवाद के फलस्वरूप पैदा हुई आशंका इसके पूर्ववर्ती रूपों की अपेक्षा अधिक असली है। आज यदि डेकार्ट होता तो वह धूर्त दैत्य की प्राककल्पना की तुलना में ''सिम्युलेशन'' प्राककल्पना को कहीं अधिक गंभीरता से लेता।[28]

मौजूदा दौर में जारी कंप्यूटर जनित ''सिम्युलेशन'' की कार्य और शक्तियाँ बड़ी ही मायावी हैं। भ्रम मायावी होती हैं; माया महाठगिनी है। डेविड चाल्मर्स ने इस प्रसंग में नारद मुनि के रूपांतरण की पौराणिक कथा की चर्चा की है। एक बार महाज्ञानी नारद मुनि ने भगवान विष्णु से कहा कि उन्होंने माया पर विजय पा ली है और वे भ्रमित नहीं हो सकते। इस पर विष्णु जी ने नारद को माया की शक्ति का अहसास कराने का निश्चय किया। अगले सुबह जब नारद सोकर उठे तो वे सुशीला नामक नारी के रूप में रूपांतरित हो चुके थे। सुशीला को अपने अतीत का कोई स्मरण नहीं रहा। सुशीला का विवाह एक राजकुमार के साथ होता है और आगे वह

अनेक पुत्रों की माँ बनती है। वह अपने भरे–पूरे परिवार में रम जाती है। इसी बीच एक शत्रु आक्रमण कर देता है जिसमें सुशीला का पूरा परिवार मारा जाता है। खुद सुशीला तो बच जाती है परंतु उस पर दुःखों का पहाड़ टूट पड़ता है। इसी समय भगवान विष्णु प्रकट होते हैं और बतलाते हैं : ''तू क्यों विषादग्रस्त हो, यह सारा कुछ तो माया मात्र है।'' इस तरह नारद मुनि की अपने असली रूप में वापसी होती है। वे महसूस करते हैं कि उनका सारा जीवन ही माया है, सुशीला की जिन्दगी की तरह।[29]

फिर भी हम बड़े मजे से रोजमर्रा की जिन्दगी जीते हैं, अक्सर बिना किसी शक–सुबहा के। परंतु क्या हम जान सकते हैं कि हमारा यह सारा साधारण जीवन वास्तविक है या महज आभासी है? इसे जानने–समझने के लिए हमें स्वयं इस जगत् से बाहर जाना पड़ेगा जो कि वास्तव में संभव नहीं है। जगत् का सृष्टिकर्ता या सिम्युलेटर ही यह दर्शा सकता है कि उसके द्वारा रचित जगत् मात्र आभासी है। परंतु यदि यह जगत् आभासी नहीं है तो हम कभी भी इसकी वास्तविकता के बारे में नहीं जान सकते।

(ज) आगमन की समस्या :

साधारणतया हम मानते हैं कि हमें अपने अनुभव से जगत् के उस संभावित अंश के विषय में भी महत्त्वपूर्ण जानकारी या मार्गदर्शन मिल सकता है जिसे हम वर्तमान में साक्षात् अवलोकन नहीं कर रहे हैं। यदि परिस्थितियाँ अनुकूल रहीं तो हम किसी–न–किसी रूप में आगमनात्मक अनुमान के सहारे महत्त्वपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। परंतु जैसा कि डेविड ह्यूम ने प्रभावशाली ढंग से तर्क दिया है कि आगमन के आधार पर आगत के विषय में हमारी प्रत्याशा कितनी ही बलवती क्यों न हो उसमें किसी तरह की अनिवार्यता नहीं होती।

एक दृष्टि से अनुभववाद में ही संदेहवाद के बीज मिलते हैं। आनुभविक ज्ञान का विपरीत सोचने पर कोई आत्मविरोध पैदा नहीं होता। हमारा अनुभव अपने–आपमें ऐसा विश्वास करने का कोई ठोस आधार प्रदान नहीं करता कि अनुभूत घटनाओं के समरूप ही आगे आनेवाली अननुभूत घटनाएँ संपन्न होंगी। यदि अनुभववाद सही है तो हममें से हरेक के लिए केवल अपना अनुभव ही प्रामाणिक हो सकता है। परंतु हरेक व्यक्ति का अनुभव अत्यंत सीमित होता है। अपने साक्षात् अनुभव से परे की घटनाओं के विषय में किसी व्यक्ति का स्वयं अपना अनुभव विश्वसनीय मार्गदर्शक नहीं

हो सकता। यहाँ आगमनात्मक अनुमान हमारे लिए सहायक नहीं हो सकता क्योंकि आगमन स्वयं अतीत के अनुभवों के सामान्यीकरण पर आधारित है।

संदेहवाद के पक्ष में ह्यूम की युक्तियाँ अत्यंत प्रभावशाली रही हैं। रसेल के मतानुसार ह्यूम का संदेहवाद पूरी तरह से आगमन के सिद्धांत की अस्वीकृति पर निर्भर है। आगमन का सिद्धांत कारणता की धारणा पर भी लागू होता है। परंतु यदि आगमन सिद्धांत सत्य नहीं है तो फिर विशेषों के निरीक्षण के आधार पर सामान्य वैज्ञानिक नियमों की स्थापना का हरेक प्रयास दोषपूर्ण है, और ह्यूम के संदेहवाद से बचना किसी अनुभववादी के लिए संभव नहीं हैं।[30]

5. संशयवाद के प्रत्युत्तर :

संशयवादी युक्तियों और चुनौतियों के बावजूद अधिकतर दार्शनिक मानव के ज्ञान–सामर्थ्य और ज्ञान की संभावना को लेकर आशावान रहे हैं। उनमें से कइयों ने अपने–अपने ढंग से संशयवाद का प्रत्याख्यान प्रस्तुत किया है। पश्चिमी दर्शन में संशयवाद के कुछ खास प्रकार के प्रत्युत्तर मिलते हैं जिनकी सामान्य व संक्षिप्त चर्चा यहाँ अपेक्षित है।

(क) सहज ज्ञानसम्मत प्रत्युत्तर :

संशयवाद बुरी तरह से सहज ज्ञान की उपेक्षा करता है। दरअसल, सामान्य बुद्धि और सहज ज्ञान को कमजोर किए बिना संशयवाद एक सिद्धांत के रूप में अपनी जड़ें नहीं जमा सकता। संशयवाद जनित यह विषमावस्था सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से असंतोषजनक और अमान्य है। सहज ज्ञान के आधार पर ही हमारा जीवन और चिन्तन अग्रसर होता है, परंतु संशयवाद हमारे सहज ज्ञान पर कुठाराघात करता है।

पश्चिमी दर्शन में टॉमस रीड और जी.ई. मूर ने पूरी शिद्दत से सहज ज्ञान के दर्शन (फिलॉसोफी ऑफ कॉमन सेन्स) का प्रतिपादन किया है। इसके आधार पर मूर ने संशयवाद का एक लोकप्रिय प्रत्युत्तर प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। मूर का मानना है कि कई चीजों को हम सामान्य बुद्धि के आधार पर इतने सहज और स्पष्ट रूप से जानते हैं कि उन पर संदेह करना ही फिजूल है। जैसे कि मैं अपने दोनों हाथों को ऊपर उठाकर कह सकता हूँ कि ये मेरे दो हाथ हैं।[31]

मूर के मतानुसार सामान्य बुद्धि सम्मत विश्वासों को जैसे–तैसे संदेह करके अस्वीकारने से अक्सर वैचारिक विसंगतियाँ भी पैदा होती हैं।

उदाहरणार्थ, ह्यूम जैसे संशयवादी ज्ञान की संभावना पर ही संदेह करते हैं। परंतु उनके विचार में अंतर्निहित विसंगति यह है कि उन्हें कम–से–कम यह ज्ञान तो है कि ज्ञान कैसे संभव नहीं है। इसलिए मूर के अनुसार सहज ज्ञान पर आधारित हमारे विश्वास संदेहवादियों की नकारात्मक युक्तियों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण और वरेण्य हैं। ऐसे सकारात्मक विश्वासों पर अडिग रहकर ही हम अपनी विचार–यात्रा में अग्रसर हो सकते हैं।

संशयवाद के साथ समस्या यह है कि उसमें हमारी सामान्य बुद्धि और दैनिक जीवन के अनुभवों के प्रति संजीदगी की सख्त कमी है। यह स्थिति हमारे सहज ज्ञान और मानवीय स्वभाव को स्वीकार्य नहीं हो सकता।

रसेल का भी मत है कि हमें अपने विचारों में जहाँ तक हो सके सरलता (सिम्पलिसिटी) और मितव्ययिता (पार्सिमोनी) का वरण करना चाहिए। सोच विचार के स्तर पर अनावश्यक जटिलता का परिहार करके ही हम सुलझे हुए दार्शनिक चिन्तन की ओर बढ़ सकते हैं। बाह्य जगत् की वास्तविकता में सामान्य बुद्धि जनित विश्वास हमारे अनुभव और पर्यवेक्षण की सरलतम व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इसकी तुलना में स्वप्न जगत् की प्राक्कल्पना और उस पर आधारित संदेहवादी युक्तियाँ हमारे विचारों में अतिशय जटिलता पैदा करती हैं। यह बात सिम्युलेशन प्राक्कल्पना पर भी लागू होती है। इस तरह संदेहवादी युक्तियाँ अक्सर विचारों में सरलता और मितव्ययिता के नियमों की उपेक्षा करती हैं और हमारे चिन्तन में अनावश्यक उलझन पैदा करती हैं।[32]

(ख) तार्किक–सैद्धांतिक प्रत्युत्तर :

कई आलोचकों की दृष्टि में संशयवाद एक आत्मघाती सिद्धांत है, क्योंकि समस्त ज्ञान की अस्वीकृति तर्कतः स्वयं का ही खण्डन कर डालती है। यदि वास्तव में कुछ भी नहीं जाना जा सकता तो फिर संदेहवादी कैसे यह जान लेता है कि उसका दावा वैध है। यदि वह अपने दावे को सत्य के रूप में स्वीकार करता है तो वह सत्य और असत्य के मध्य विभेद कर रहा है। इस तरह उसके लिए किसी–न–किसी रूप में सत्य के विचार को स्वीकारना अपरिहार्य है, अन्यथा वह ज्ञान की संभावना के विरूद्ध वैध तर्कणा के सिद्धांतों का भी हवाला नहीं दे सकता।

इसलिए पूर्ण संशयवाद वास्तव में असंभव, अचिन्त्य और दुर्लभ है। आलोचकों की दृष्टि में यह बात आत्मविरोधी है कि किसी भी विषय का ज्ञान

नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा कहने का निहितार्थ है कि कम–से–कम एक विशेष प्रकार का ज्ञानमूलक दावा सत्य है जिसे कि स्वयं संशयवाद के अंतर्गत केन्द्रीय सिद्धांत के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया जाता है। अर्थात् यदि सबकुछ संदेहास्पद है तो संशयवाद की केन्द्रीय स्थापना भी संदेह के घेरे में आ जाती है।

यही कारण है कि एक सुविचारित सिद्धांत के रूप में संदेहवाद का सूत्रीकरण दुष्कर है। एक दृष्टि से यहाँ रसेल का सिद्धांत 'थ्योरी ऑफ टाइप्स' लागू होता है। इसके अनुसार चूँकि संदेहवाद की मूलभूत स्थापना स्वयं उस पर भी लागू होती है इसलिए उसका संतोषजनक सूत्रीकरण नहीं हो सकता। लेकिन, संदेहवाद को कोई युक्तिसंगत आधार तभी मिल सकता है जब कम–से–कम कुछ बुनियादी चीजें संदेह से परे हों। यदि हम वैसी चंद चीजों के बारे में भी असंदिग्ध रूप से कुछ भी नहीं जानते हैं तो हम किसी भी विषय में कुछ भी नहीं जान सकते। तब हम उनकी संभावना या असंभावना के बारे में भी संगत रूप से कुछ नहीं सोच सकते।

यहाँ कोई यह कह सकता है कि संदेहवाद को आत्मघाती घोषित करना या उस पर 'थ्योरी ऑफ टाइप्स' जैसे तर्क को लागू करने के उपक्रम वास्तव में हमारी विचार–प्रक्रिया के एक अहलदा स्तर से संबंधित हैं। व्यक्तिगत स्तर पर किसी के लिए पूर्ण संशयवाद से सहमत होना असंभव नहीं है भले ही उच्चतर वैचारिक स्तर पर उसके लिए अपने मत का एक सिद्धांत के रूप में सूत्रीकरण और युक्तिपूर्वक प्रतिपादन करना आसान नहीं हो।

उदाहरणार्थ, आधुनिक पश्चिमी दर्शन के प्रारंभिक चरण में फ्रांसिस्को सांचेज में संदेहवाद को एक आत्मघाती सिद्धांत मानने से इनकार कर दिया था। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक *देट नथिंग इज नोयन* की शुरूआत ही इस युक्ति से होती है– 'मैं यहाँ तक कि इस बात को भी नहीं जानता कि मैं कुछ नहीं जानता'।[33]

स्पष्ट है कि संशयवाद का खण्डनात्मक पक्ष जितना सबल और विचारोत्तेजक प्रतीत होता है उसका मंडनात्मक पक्ष उतना ही कमजोर और नाकाफी नजर आता है। निश्चयात्मक ज्ञान के विरूद्ध संदेहवादी युक्तियाँ भले ही जोरदार हों, परंतु एक दार्शनिक सिद्धांत के रूप में संशयवाद को प्रतिपादित करने का कोई भी प्रयास तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता।

(ग) व्यावहारिकतावादी प्रत्युत्तर :

यदि संशयवाद सत्य हो और वह हमारे दैनिक जीवन में पूरी तरह से चरितार्थ हो जाए तो वह लोक–व्यवहार के लिए विध्वंसकारी सिद्ध होगा। ह्यूम का भी मानना था कि बुद्धि जनित तमाम तरह के संदेहों के बावजूद हमारे भीतर व्यवहार में विश्वास करने की सुदृढ़ प्रवृत्ति होती है। बुद्धि मानव प्रकृति का एक अंशमात्र है, सारभूत या सब–कुछ नहीं। व्यवहार में विश्वास भी मानव प्रकृति का नैसर्गिक अभिन्न अंग है। ह्यूम के मतानुसार बुद्धिवादियों का हठवाद नहीं, अपितु व्यवहार में विश्वास करने की मूल प्रवृत्ति और कल्पना शक्ति ही हमें संदेहवाद के सैद्धांतिक प्रहारों से बचा सकते हैं।[34] इस तरह ह्यूम को भी अंततः मानव प्रकृति के बौद्धिक और व्यावहारिक पक्षों के बीच समझौता स्थापित करने का प्रयास करना पड़ा।

इस संदर्भ में विलियम जेम्स का मत अत्यंत महत्वपूर्ण है। जेम्स के मतानुसार विश्वासेच्छा (विल टू बिलीव) मानव प्रकृति का नैसर्गिक अंग है जो किसी विचाराधीन विषय के पक्ष या विपक्ष में निर्णय करने के हमारे संकल्प को व्यवहार में साकार करता है। जेम्स का तर्क है कि व्यवहार में हमारे लिए अक्सर ऐसे मामलों में भी किसी–न–किसी निर्णय पर पहुँचने की स्वभाविक विवशता होती है जहाँ कि वास्तव में निर्णय करने के लिए पर्याप्त बौद्धिक आधार नहीं होता। वैसी स्थिति में कुछ नहीं करना –यह कहना कि 'कोई निर्णय नहीं लो, बल्कि प्रश्न को खुला छोड़ दो'–भी एक विकल्प हो सकता है। परंतु कोई निर्णय नहीं लेना भी अपने–आपमें एक तरह का निर्णय होता है और ऐसे निर्णय में भी सत्यता को खो देने का जोखिम शमिल होता है।[35]

जेम्स के मत का एक उल्लेखनीय नैतिक आयाम भी है। ज्ञान को साधारणतया एक बौद्धिक सद्‌गुण माना जाता है। इसलिए ज्ञान से प्रेम और अज्ञानता का विरोध मानवीय ज्ञानशीलता के अभिन्न अंग हैं। सत्यनिष्ठा नैतिक रूप से वरेण्य है। एक नैतिक कर्तव्य के रूप में सत्यनिष्ठा दो समान रूप से महत्त्वपूर्ण समादेशों से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है– सत्यता में विश्वास और भूल–चूक का परिहार। परंतु संदेहवाद केवल भूल–चूक से बचाव पर एकपक्षीय जोर देता है। जेम्स के मतानुसार संदेहवादी भूल–चूक और झाँसे से इतना भयाक्रांत होता है कि वह जीवन के महत्त्वपूर्ण सत्य तक नहीं पहुँच पाता है[36]।

सत्य की खोज जोखिम की माँग करती है। ज्ञान के अभियान में भूल–चूक होने का भय निरंतर बना रहता है। इससे बचने के लिए कुछ लोगों को संशयवाद का मार्ग सुकर लग सकता है। ऐसे संशयवादी कोई जोखिम उठाना नहीं चाहते, भले ही उसके लिए निर्णय को स्थगित करना पड़े।

जाहिर है कि जो लोग गंभीर दार्शनिक चिन्तन के अभ्यस्त नहीं होते वे अक्सर संदेहवाद के कायल हो जाते हैं। उन्हें लगता है कि सामान्य ज्ञान और व्यावहारिक विषयों को लेकर भी दार्शनिकों के बीच मतभेद और कटु वाद–विवाद आम हैं। ज्ञान का दावा तो ये सभी करते हैं परंतु अंततः निश्चायक रूप से ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है। सोफिस्टों के समय यह प्रवृत्ति चरम पर थी। रसेल ने इस संदर्भ में लिखा है कि संदेहवाद उस दौर में आलसी आदमी के लिए एक तरह की सांत्वना थी; क्योंकि उससे ऐसा लगता था कि चौक–चौराहे का कोई आम आदमी उतना ही बुद्धिमान है जितना कि कोई सुशिक्षित प्रतिष्ठित नागरिक। इसलिए भविष्य को लेकर भी परेशान होना बेकार है क्योंकि वह तो बिल्कुल अनिश्चित है। ऐसी सोच के चलते संदेहवाद काफी हद तक लोकप्रिय होने में सफल रहा।

प्लेटो ने अपने संवाद–ग्रंथ *थीटिटस* में प्रोटागोरस के मत की एक संभावित व्याख्या सुझाई है। उसके अनुसार किसी विषय पर विभिन्न व्यक्तियों के बीच मतांतर के स्थिति में कोई एक मत अन्य मतों की अपेक्षा बेहतर हो सकता है भले ही वह दूसरों से अधिक सत्य न हो। जैसे कि पीलिया के रोगी को सबकुछ पीला दीखता है। प्रोटागोरस के व्यक्तिसापेक्ष मापदण्ड के अनुसार उस व्यक्ति विशेष के दृष्टिकोण को ऐसा कहने का कोई अर्थ नहीं रह जाता है कि चीजें वास्तव में पीली नहीं हैं। तथापि रूग्णता की तुलना में स्वास्थ्य स्पष्टता श्रेयस्कर होता है, इसलिए एक सेहतमंद व्यक्ति का मत एक पीलियाग्रस्त व्यक्ति के मत की अपेक्षा बेशक बेहतर और मान्य है।[37]

ऐसी व्याख्या हमें व्यावहारिकतावाद की ओर ले जाती है। यही कारण है कि एफ.एस.सी. शीलर स्वयं को प्रोटागोरस का शिष्य कहा करता था। वस्तुनिष्ठ सत्यता में अविश्वास की स्थिति में व्यावहारिक प्रयोजन के लिए बहुमत प्रायः निर्णायक बन जाता है। इसलिए प्रोटागोरस ने विधि, परंपरा और प्रचलित नैतिकता का समर्थन किया है। जैसे कि उसका मत है

कि देवताओं के अस्तित्व को जाना नहीं जा सकता परंतु फिर भी उनकी पूजा की जानी चाहिए।[38]

यदि दर्शन का मानव जीवन में कोई सकारात्मक प्रयोजन है तो उसका मकसद निरे संशयवाद की शिक्षा देना नहीं हो सकता। आद्यांत संशयवाद एक ऐसी प्रतिबद्धताविहीन स्थिति की ओर ले जाता है जहाँ कि कोई की विवेकपूर्ण और बुद्धिसंगत कर्म असंभव हो जाता है। ऐसा संदेहवाद न तो व्यक्तिगत जीवन और न ही समाज के लिए कोई संतोषजनक प्राथमिक आदर्श प्रस्तुत कर सकता है।[39] संशयवाद हमारे जीवन–संघर्ष में भी सहायक नहीं हो सकता।

(घ) तर्कीय प्रत्यक्षवादी प्रत्युत्तर :

वियना वृत्त के प्रत्यक्षवादी दार्शनिक सामान्यतया संदेहवाद के विरोधी थे; क्योंकि संदेहवादी प्रवृत्तियाँ उनके घोषित कार्यक्रम के प्रतिकूल थीं। तर्कीय प्रत्यक्षवादियों का मकसद दर्शन को वैज्ञानिक बनाना था। तदनुरूप उनके ज्ञान की अवधारणा भी काफी कठोर और तार्किक थी। ए.जे. एयर के मतानुसार किसी ज्ञाता का कोई ज्ञानमूलक दावा तभी सही समझा जाएगा जब वह निःसंशयात्मक रूप से अधिकारपूर्वक जानता है कि संबंधित प्रतिज्ञप्ति सत्य है।[40] ज्ञान के लिए प्रामाणिकता अनिवार्य तार्किक शर्त है जिसे इस आधार पर सुनिश्चित किया जा सकता है कि संबंधित प्रतिज्ञप्ति सत्यापनीय है या नहीं।

रूडोल्फ कॉर्नप के अनुसार अनेक दार्शनिक समस्याएँ निरर्थक होते हैं क्योंकि वे वास्तविक समस्या न होकर छद्म–समस्या होते हैं। जिस तरह की प्राक्कल्पनाओं और वैचारिक प्रयोगों के आधार पर संदेहवाद का समर्थन किया गया है वे अपने–आपमें सत्यापनीय नहीं हैं। तर्कीय प्रत्यक्षवादी दृष्टि से जिन प्रकथनों का सत्यापन नहीं हो सकता वे वास्तव में निरर्थक हैं। डेकार्ट के धूर्त दैत्य की प्राक्कल्पना के पक्ष या विपक्ष में हमें ऐसे साक्ष्य नहीं मिल सकते जिनसे उसका खण्डन अथवा मण्डन हो सके। यह बात टंकी–में–मस्तिष्क और सिम्युलेशन संबंधी प्राक्कल्पनाओं पर भी लागू होती है। ऐसी प्राक्कल्पनाओं के साथ बुनियादी समस्या यह है कि इन्हें सत्यापित या मिथ्यापित नहीं किया जा सकता। फलतः इन्हें वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाएँ भी नहीं माना जा सकता। तार्किक दृष्टि से वे निरर्थक हैं, भले ही वे कितने ही विचारोत्तेजक क्यों न हों।

कुछ अन्य तर्कीय प्रत्यक्षवादियों ने प्रामाणिकता के संदर्भ और खोज के संदर्भ के बीच महत्त्वपूर्ण विभेद किया है। तर्कीय प्रत्यक्षवादी इन दोनों में से केवल प्रामाणिकता के संदर्भ को ही महत्त्व देते हैं। संदेहवादी परिकल्पनाएँ कितनी ही रोचक एवं विचारोत्तेजक क्यों न हों वे खोज के संदर्भ के अंश हैं। तर्कीय प्रत्यक्षवादी दृष्टि से इनका तार्किक महत्त्व प्रायः नगण्य होता है।[41]

तर्कीय प्रत्यक्षवादी एक समय विट्गेन्स्टाइन के ट्रैक्टेटस से बड़े प्रभावित थे। ट्रैक्टेट्स में एक जगह संशयवाद का रोचक प्रत्याख्यान मिलता है : 'संशयवाद अखण्डनीय नहीं, वरन् प्रकटतः अर्थहीन है, यदि वह वहाँ संदेह उपस्थित करे जहाँ कोई प्रश्न नहीं पूछा जा सके। क्योंकि, संदेह वहीं हो सकता है जहाँ कोई प्रश्न है, कोई प्रश्न वहीं जहाँ कोई उत्तर है, और यह उत्तर केवल वहीं जहाँ कुछ कहा जा सकता है' (6.51)। दरअसल, पूर्वकालीन विट्गेन्स्टाइन के अनुसार जो कुछ कहा जा सकता है वह स्पष्टतया कहा जा सकता है और वह सारा कुछ प्राकृतिक विज्ञान का क्षेत्र है। इससे परे या इतर कुछ विषय ऐसे भी हैं जो कथनीय नहीं हैं, परंतु प्रदर्शनीय हैं। ये अकथनीय विषय रहस्यात्मक हैं जिन पर संदेह भी नहीं किया जा सकता है।

(ङ) भाषा–विश्लेषणवादी प्रत्युत्तर :

उत्तरकालीन विट्गेन्स्टाइन और कई परवर्ती भाषा–विश्लेषणवादी दार्शनिकों का मत है कि दार्शनिक संदेहवाद की अवस्था संप्रत्ययात्मक संभ्रान्ति और वैचारिक अव्यवस्था का परिचायक है। संदेहवादी जो कुछ कहता है उसका विश्लेषण करने पर वह अर्थहीन ठहरता है। संदेहवाद वास्तव में भाषा की गलत समझ और उसके दुरूपयोग का परिणाम है। हमारा मुख्य सरोकार असल में इस बात से है कि भाषा व्यवहार में कैसे कार्य करती है। हमें यह देखना और सीखना होता है कि 'ज्ञान' और 'निश्चयता' जैसे संप्रत्ययों का भौतिक वस्तुओं, अपनी और अन्य की मनोदशाओं, अतीत और आगत की घटनाओं आदि के संदर्भ में कैसे प्रयोग किया जाता है।

विट्गेन्स्टाइन के उत्तरकालीन दर्शन में ''भाषा–खेल'' की अवधारणा का मौलिक महत्त्व है। संदेहवादी की उक्तियों एवं युक्तियों को भी वे ''भाषा–खेल'' के संदर्भ में परखते हैं। जानने के दावों का भी एक

विशेष ''भाषा–खेल'' होता है, और उसी संदर्भ में 'ज्ञान' 'विश्वास', 'संदेह' 'निश्चयता' आदि के बारे में सार्थक ढ़ंग से बात की जा सकती है, उन्हें समझा जा सकता है। ऐसी अवधारणाओं के प्रयोग के कुछ नियम, परिपाटी और कसौटियाँ होती हैं जो कि संबंधित ''भाषा–खेल'' के लिए आधारभूमि का निर्माण करते हैं। ऐसे आधार के बिना हम संदेहवादी युक्तियों को भी नहीं समझ सकते। इसका मतलब है कि संदेह के मूल में भी कुछ पूर्वमान्यताएँ होती हैं; संदेह निराधार नहीं होता। विट्गेन्स्टाइन के शब्दों में, ''हमारे संदेह इस तथ्य पर निर्भर करते हैं कि कुछ प्रतिज्ञप्तियाँ संदेह से मुक्त हैं जैसे कि वे कब्जे हों जिनपर वे घूमते हैं'', (ऑन सर्टेनिटी, अनु. 341)।

आजकल कुछ विचारकों का ऐसा भी मत है कि ज्यों ही संदेहवाद की शुरूआत होती है त्यों ही उससे निबट लेने में भलाई है ताकि वह हमारे दिलोदिमाग में घर नहीं कर सके। ऐसी रणनीति के तहत अक्सर यह सवाल उठाया जाता है कि क्या संदेहवाद को पूरी संजीदगी से स्वीकार किया जा सकता है? हमारी भाषा की सार्थकता और विचारों की प्रभावशीलता के लिए कतिपय पूर्वापेक्षाएँ हैं और उनके मद्देनजर संदेहवाद स्वीकार्य नहीं हो सकता।

(च) विकासवादी ज्ञानमीमांसा पर आधारित प्रत्युत्तर :

मानवीय ज्ञान निरंतर विकासशील होता है। नये साक्ष्य और नयी जानकारी के आलोक में कई स्थापित सिद्धांतों और ज्ञान के रूपों में परिवर्तन होना स्वभाविक है। इस प्रक्रिया में संशयवाद की आलोचनात्मक भूमिका का अपना महत्त्व है। सीमित और मर्यादित मात्रा में संशयवाद दार्शनिक चिन्तन की पूर्वापेक्षा और अभिप्रेरक के रूप में प्रस्तुत होती रही है। इस रूप में संदेहवाद हमें हठवाद के खतरों के प्रति सचेत करता रहा है।[42] आधुनिक ज्ञानमीमांसा के उद्भव और विकास में संशयवादी प्रश्नों और युक्तियों की अहम भूमिका रही है।

परंतु संशयवाद के साथ समस्या यह है कि उसके लिए अपने सीमित और मर्यादित स्वरूप को अंत तक कायम रख पाना अत्यंत कठिन होता है। संशयवाद में चरम और सर्वग्राही रूप में परिणत होने की अंतर्निहित प्रवृत्ति होती है। इस तरह संशयवाद की आलोचनात्मक भूमिका अंततोगत्वा विध्वंसकारी हो सकती है।

रसेल के अनुसार दर्शन के एक प्रकार के रूप में संदेहवाद मात्र संशय ही नहीं है, अपितु इसे तो हठवादी संशय (Dogmatic Doubt) कहा जा सकता है। एक वैज्ञानिक सोच का व्यक्ति कह सकता है कि 'अमुक विषय ऐसा–और–ऐसा है, परंतु मैं निश्चित नहीं हूँ'। इसी तरह कोई बौद्धिक जिज्ञासु कह सकता है कि 'मैं नहीं जानता कि यह कैसा है किन्तु इस विषय में मैं जाँच–पड़ताल कर सकता हूँ।' किन्तु दार्शनिक संदेहवादी का कहना है– 'कोई नहीं जानता, और कोई कभी भी नहीं जान सकता।' यही हठवाद संशयवादी विचार– प्रणाली को कमजोर बनाता है।[43]

कार्ल पॉपर का मत है कि ज्ञान–विज्ञान के विकास में कमोबेश जोखिम अपरिहार्य रूप से सम्मिलित होता है। वैज्ञानिक सिद्धांत हमेशा खुले और आलोचनात्मक होते हैं। इसलिए विज्ञान में भूल–सुधार और प्रगति की सतत् संभावना रहती है। पॉपर के अनुसार वैज्ञानिक प्रगति के मूल में मिथ्यापनीयता का तर्कशास्त्र (Logic of falsifiability) निहित होता है। कोई भी वैज्ञानिक सिद्धांत संदेह से सर्वथा परे नहीं हो सकता। उसके समक्ष ऐसे विपरीत उदाहरणों के उभरने का खतरा निरंतर बना रहता है जो कि उसे मिथ्या सिद्ध कर दे। ऐसे खतरों का जोखिम उठाते हुए वैज्ञानिक संबंधित प्राक्कल्पना को क्रमशः कठोर परीक्षणों का विषय बनाते हैं। उसमें आवश्यक सुधार और उन्नयन करते हुए बेहतर प्राक्कल्पना पर पहुँचा जा सकता है।[44]

इसलिए पॉपर की विकासवादी ज्ञानमीमांसा को आशावादी संशयवाद (Optimistic Scepticism) कहा जाता है। इसके अनुसार किसी भी वैज्ञानिक सिद्धांत को कभी भी हठवादी तरीके से अचूक और असंशोधनीय नहीं मानना चाहिए। ज्ञान–विज्ञान के किसी भी क्षेत्र में हम कभी भी ऐसा दावा नहीं कर सकते कि हमने पूर्ण या अंतिम सत्य को पा लिया है। विज्ञान हमेशा विकासशील होता है और संदेहवाद इस प्रक्रिया में उत्प्रेरक हो सकता है।

6 आलोचनात्मक निष्कर्ष :

अधिकतर आलोचक संदेहवाद को सैद्धांतिक दृष्टि से अंतर्विरोधपूर्ण और व्यावहारिक दृष्टि से असंतोषजनक मानते हैं। विचारों के इतिहास में संशयवाद अक्सर उपेक्षित और उपहसित हुआ है।

हमारा व्यावहारिक जीवन विश्वास की बुनियाद पर चलता है, परंतु संदेहवाद उस आधारभूत विश्वास पर प्रायः प्रतिकूल या फिर कभी–कभी विनाशकारी प्रभाव डालता है। उदाहरणार्थ, हम अपने दैनिक जीवन में विश्वास करते हैं कि प्रकृति समान परिस्थितियों में समरूप व्यवहार करती है। हम कारणता में भी विश्वास करते हैं। इनके आधार पर हम भविष्य की घटनाओं का काफी हद तक अनुमान कर लेते हैं। इससे हमें न केवल दैनिक जीवन में आसानी होती है, बल्कि ऐसा अनुमान ज्ञान–विज्ञान की प्रगति में सहायक होता है।

लेकिन संशयवादी दृष्टि कोई स्वस्थ या सकारात्मक जीवन–दर्शन के विकास में सहायक नहीं हो सकता। जीवन के त्रासद और स्याह पक्ष को उभारकर प्रस्तुत करना संशयवाद का मुख्य मकसद रहा है। दुःखांत नाटकों में संशयवाद की प्रवृत्ति मुखर रूप में मिलती है। जैसे कि यूनानी नाटककार यूरिपीडिस के दुःखान्त नाटकों में उस युग की संशयवादी प्रवृत्तियाँ प्रतिबिम्बित हुई हैं।

यह सच है कि मानव की ज्ञान–क्षमता सीमित है और वह बहुधा त्रुटि–प्रवण भी होती है। हमारे ज्ञान प्राप्ति के मार्ग कई तरह की कमियों, कमजोरियों और मूर्खताओं से मुक्त नहीं होते। विशेषज्ञों के बीच भी काफी मतविभिन्नता मिलती है। परंतु संदेहवाद में केवल ऐसे ही नकारात्मक पक्ष पर जोर देने की प्रवृत्ति होती है। इसलिए मानवीय ज्ञान के क्षेत्र में वास्तविक प्रगति की संभावना को लेकर संदेहवादी प्रायः निराशावादी हो जाते हैं।[45]

सैद्धांतिक दृष्टि से संशयवाद को प्रायः एक आत्मधाती सिद्धांत माना जाता है। चूँकि संशयवाद किसी भी विषय में असंदिग्ध और सार्वभौम ज्ञान संभव नहीं मानता, इसलिए स्वयं संशयवाद भी संदेह से परे कोई सर्वमान्य सिद्धांत नहीं हो सकता। यदि संदेहवादी सही है तो उसे संशयवाद के प्रति भी संदेहशील होना चाहिए। इस तरह संदेहवाद एक आत्मघाती सिद्धांत ठहरता है। ऐसा मत संशयवाद के परंपरागत आलोचकों का है।

परंतु एक सामान्य समसामयिक मत यह है कि संयमित या मर्यादित रूप में संशयवाद आत्मघाती सिद्धांत नहीं है। आत्मघाती होने की स्थिति तब पैदा होती है जब संशय सर्वग्राही या वैश्विक हो। परंतु ऐसे पूर्ण संदेहवादी का वास्तविक उदाहरण मिलना दुर्लभ है। ऐसा चरम या आत्यंतिक संदेहवादी होने से खुद उसी का संदेह उसका साथ नहीं देता।

ह्यूम भी स्वयं को आत्यंतिक संदेहवादी नहीं, अपितु संयमित संशयवादी मानता है। वह मानवीय ज्ञान के सभी क्षेत्रों में संदेहवादी नहीं है; कुछ क्षेत्रों में वह सार्वभौम और अनिवार्य ज्ञान को संभव मानता है, जैसे गणित और तर्कशास्त्र में। उसका संदेहवाद केवल वस्तु–तथ्य विषयक आनुभाविक ज्ञान तक सीमित है। आनुभविक प्रतिज्ञप्तियाँ मात्र संभाव्य हो सकती हैं, अनिवार्य और सार्वभौम नहीं।

परंतु यहाँ एक अहम सवाल उठता हैः यह प्रतिज्ञप्ति कि ''सभी आनुभविक प्रतिज्ञप्तियाँ संभाव्य होती हैं'' स्वयं एक आनुभविक प्रतिज्ञप्ति है या नहीं? आजकल कुछ विद्वानों का मत है कि यह कोई प्राथमिक स्तर की आनुभविक प्रतिज्ञप्ति नहीं है बल्कि यह तो उच्च तार्किक स्तर पर विचारित एक दार्शनिक प्रतिज्ञप्ति है। यह सीधे अनुभव पर आश्रित प्रतिज्ञप्ति नहीं हैं, बल्कि इसका आधार तो आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों का दार्शनिक विश्लेषण है। ह्यूम के अनुसार सभी आनुभविक प्रतिज्ञप्तियाँ केवल संभाव्य ही हो सकती हैं, और यह संदेहवाद की केन्द्रीय स्थापना है; परंतु यह अपने–आपमें कोई आनुभविक प्रतिज्ञप्ति नहीं है, इसलिए संदेहवाद आत्मघाती सिद्धांत नहीं है।[46]

लेकिन यह तो अनुभववाद की समस्या का गैर–अनुभववादी समाधान है– यह एक बौद्धिक–तार्किक सामाधान है। इसमें एक विरोधाभास भी निहित है जो कि स्व–निर्देश (सेल्फ–रेफरेन्स) के मामलों में सामान्यतया उत्पन्न होता है। रसेल ने अपने 'थ्योरी ऑफ टाइप्स' नामक तार्किक सिद्धांत द्वारा इसे व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। इसके अनुसार किसी प्रतिज्ञप्ति के बारे में कोई कथन करने के लिए उससे उच्चतर स्तर की प्रतिज्ञप्ति का सहारा लेना पड़ता है। यह बात किसी भी विचार–प्रणाली के आत्म–विषयक विमर्श पर लागू होती है। संदेहवादी को भी खुद अपने संशयवाद पर चर्चा करने के लिए अपनी विचार–प्रणाली का अतिक्रमण करना पड़ता है।

संदेहवाद के सैद्धांतिक संकट का यहीं अंत नहीं होता। दरअसल, जैसा कि कर्ट गोयडेल ने बतलाया है कि कोई भी विचार–प्रणाली या तार्किक संस्थान ऐसी प्रतिज्ञप्ति को पैदा कर सकता है जिसे खुद उस प्रणाली के अंतर्गत सही या गलत सिद्ध नहीं किया जा सकता। ऐसा करने के लिए एक उच्च स्तर के तार्किक संस्थान की रचना आवश्यक हो जाता

है। परंतु ऐसे उच्च संस्थानों के मामले में भी फिर वही समस्या प्रस्तुत होती है और फलतः उच्च से उच्चतर संस्थानों की आवश्यकताओं की अंतहीन श्रृंखला चल पड़ती है। इसका निहितार्थ है कि एक सिद्धांत के रूप में संशयवाद के अंतर्विरोध का उच्चतर वैचारिक स्तर पर जो समाधान सुझाया गया है वह भी निरापद नहीं है।

आखिकार, असली मुद्दा यह है कि किस हद तक संदेह किया जा रहा है—संशयवाद की सीमा क्या है? यदि संशयवाद सर्वग्राही या आत्यंतिक है तो वह सिद्धांत और व्यवहार दोनों स्तरों पर ऐसी समस्याएँ पैदा कर सकता है जो असमाधेय हों। लेकिन यदि संशयवाद संयत और सीमित हो तो वह हमें आलोचनात्मक दृष्टि दे सकता है। मर्यादित मात्रा में संशय दार्शनिक चिन्तन की पूर्वापेक्षा और अभिप्रेरक के रूप में प्रस्तुत होती रही है। संशय की मनोदशा हमारे भीतर प्रश्नाकूलता पैदा करती है— ज्ञान के स्थापित रूपों और प्रचलित प्रतिमानों पर गंभीर चिन्तन के लिए हमें प्रेरित करती है।

अचरज की बात नहीं कि प्राचीन यूनानी दर्शन में संशयवादी प्रवृत्तियाँ और अव्वल दर्जे का दार्शनिक चिन्तन परस्पर क्रिया—प्रतिक्रिया करते हुए विकसित हुए। परंतु मध्ययुगीन यूरोप में मठ—केन्द्रीत धर्म और आस्था का ऐसा प्रभुत्व कायम हुआ कि संशय और तर्कबुद्धि के लिए शायद ही कोई अवकाश रह गया। पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप संशयवादी प्रवृत्तियाँ पुनः प्रकट हुईं। लंबे समय से चले आ रहे धार्मिक मतांधता और हठवादिता के विरूद्ध आधुनिक मानस के बौद्धिक—वैचारिक संघर्ष में संदेहवादी प्रश्न एकाएक प्रासंगिक हो गए।

यूरोपीय पुनर्जागरण के फलस्वरूप उपजे संशयवाद के इस रूप को समकालीन दर्शन में आलोचनात्मक संदेहवाद (Critical scepticism) कहते हैं। इस प्रकार के संशयवाद के अंतर्गत किसी विचाराधीन विषय में निर्णय को स्थगित करके पहले उसके सभी पूर्वमान्यताओं और निष्कर्षों पर प्रश्न किए जाते हैं ताकि आलोचनात्मक विश्लेषण की कसौटी पर हरेक का औचित्य सिद्ध किया जा सके। ऐसे संशयवाद का प्रारंभिक रूप सुकरात के प्रश्न करने की अभिवृत्ति में मिलता है और इसके पक्ष में काफी कुछ कहा जा सकता है। ऐसा संशयवाद मानव को अंधविश्वास, पूर्वाग्रह तथा भूल—चूक से बचाता है और सामान्यतया बौद्धिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त करता है।[47]

सामान्य रूप से समस्त ज्ञान–विज्ञान और विशेष रूप से ज्ञानमीमांसा के उद्‌भव और विकास में संदेहवादी प्रवृत्तियों की अहम भूमिका रही है। संदेहवादी सवालों को सामना करते हुए ज्ञानमीमांसक युगों से सत्यता की समीचिन कसौटी विकसित करने में लगे रहे। ज्ञान की कसौटियों के विरूद्ध संदेहवादी चुनौतियों का माकूल जवाब देना ज्ञानमीमांसा का शुरू से ही एक मुख्य सरोकार रहा है। संशयवाद हमेशा मात्र नकारात्मक और निराशावादी नहीं होता, वह आलोचनात्मक और विचारोत्तेजक भी हो सकता है। संदेहवाद ऐसे वैध सवाल खड़े करता है जिसका प्रत्युत्तर प्रस्तुत करना ज्ञानमीमांसा के लिए अपरिहार्य हो जाता है।

स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग
सिदो कान्हु मुर्मु विश्वविद्यालय
दुमका - 814101, (झारखण्ड)

संदर्भ एवं पाद टिप्पणी

1. *R. Audi, Epistemology, London & NY: Routledge, 2011 p. 335.*
2. *Ibid, p.334.*
3. *A.J. Ayer, The Problems of Philosophy, London: Penguin, 1950, p.35.*
4. *Ibid, p.40.*
5. *J. Hospers, An Introduction to Philosophical Analysis, New Delhi : Allied Publishers, 1971, p. 152.*
6. *Ibid, p.152-53.*
7. *R. Audi, op.cit, 2011, p.337.*
8. *B. Russell, History of Western Philosophy, London & NY: Routledge Classics, 2004, p.224.*
9. *B. Russell, Unpopular Essays, Bombay et al: Blackie & Sons (India) Ltd, 1979, p.65*
10. *राजेन्द्र प्रसाद, ''डेविड हयूम'', पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, दया कृष्ण (सं.), खण्ड–2, जयपुर : राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 1990, पृ. 242.*

11. *Stuart Sim(ed.), The Routledge Companion to Post-modernism, London: Routledge, 2001, p. 3.*
12. *J-F Lyotard, The Postmodern Condition : A Report on knowledge, Manchester : Manchester University Press, 1997, p. XXIJ,*
13. *D.J. Chalmers, Reality : Virtual Worlds and the Problems of Philosophy, UK: Panguin Random House, 2023, p.102*
14. *S. Sim, op. cit. 2001,p.13*
15. *B. Russell, op. cit., 2004, p. 83*
16. *A.C. Grayling, The History of Philosophy, UK: Panguin Random House, 2020, pp.116-18.*
17. *F. Thilly, A History of Philosothy, Allahabad : Certral Publishing House, 1996, p. 142.*
18. *B. Russell, op. cit, 2004, p.15*
19. *Ibid, pp. 224-225*
20. *Michel de Montaigne, "An Apologie of Remond Sebond" in The Essays of Montaine, NY: Modern Library,1933, p. 544*
21. *Vide, William James, Pragmatism and Other Writings, NY: Penguin Books, pp. 202-203.*
22. *Arvind Sharma, The World as Dream, New Delhi : D.K. Printworld, 2006.*
23. *J. Hospers, op. cit., 1971, p. 155.*
24. *A.C. Garyling, Philosophy and Life : Exploring the great questons of how to live, UK : Penguin Random House, 2023, p.177. Also, D.J. Chalmers, op. cit., 2023, pp.4-5.*
25. *Hillary Putnam, Reason, Truth and History, Combridge : Cambridge University Press, 1981, pp. 50-51.*
26. *R.Nozick, Philosophical Explanatians, Oxford : Clarendon Press, 1981, p.167.*
27. *N. Bostrom, "Are you living in a computer simulation?" Philosophical Quarterly, 52(2003) : 243-55.*

28. *Vide, D.J. Chalmers, op. cit., 2023, p.55.*
29. *I bid, pp.5-6.*
30. *B. Russell, op. cit., 2004, p.612.*
31. *G.E. Moore, "Proofs of an External World" Proceedings of British Academy, 25, no 5 (1939) : 273-300.*
32. *B. Russell, The Propblems of Philosophy, NY : Henry Holt, 1912, pp.22-23.*
33. *F. Sanches, That Nothing is Known, Douglas F.S. Thomson (trans.), Cambridge : Cambridge University Press, 1988*
34. *D. Hume, An Enquiry Concerning Human Understanding, With an Introduction and edited by L.A. Selby, Bigge, Oxford : Clarendon Press, 1902, p.108.*
35. *W. James, op. cit., 2000, p.205.*
36. *B. Russell, op. cit., 2004, p.726.*
37. *Ibid, p. 83.*
38. *Ibid,*
39. *Harold H. Titus, Living lssues in Philosophy : An Introductory Textbook, NY et al : American Book Company, 1946, p. 202.*
40. *A.J. Ayer, The Problems of Philosothy, London : Macmillan, 1956, p.34.*
41. *R.K.S. Choudhary, "On the Contexts of Discovery and Justification", University News, New Delhi : Association of Indian Universities, 58.32, 2020,pp.12-16.*
42. *H.H. Titus, op, cit., 1946, p,202,*
43. *B.Russell, op, cit, 2004, p.224.*
44. *K. Popper, The Logic of Scientific Discovery, London : Hutchinson, 1959, p 111.*
45. *H.H. Titus, op, cit., 1946, p,202,*
46. *राजेन्द्र प्रसाद, दर्शनशास्त्र की रूपरेखा, दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास, 2011, पृ.203.*
47. *H.H. Titus, op, cit., 1946, p,202,*

इलोकेशनरी वाक्-क्रिया : परम्परावादी एवं अभिप्रायवादी दृष्टिकोण

प्रियान्शु अग्रवाल

भाषा हमारे दैनंदिन मानव व्यवहार एवं संप्रेषण में केंद्रीय भूमिका का निर्वहन करती है। यह न केवल विचारों अथवा भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम है, बल्कि यह समाज में मनुष्यों के मध्य संबंधों एवं सामाजिक संरचनाओं को भी आकार देती है। इसीलिए भाषा मात्र सूचना का साधन नहीं है, अपितु एक तंत्र है जिसके द्वारा हम अपना कार्य संपादन भी करते हैं। भाषा की इसी विशेषता को साधारण भाषा दार्शनिकों (Ordinary Language Philosophers) में विशेषकर जे.एल. आस्टिन (J.L. Austin) के द्वारा पहचाना गया। इसीलिए दर्शन जगत् में आस्टिन ने सर्वप्रथम वाक्–क्रिया सिद्धांत (Speech Act Theory) को प्रस्तुत किया। उनका मानना था कि वचन जगत् का वर्णन करने के साथ–साथ इसे सक्रिय रूप से परिवर्तित भी कर सकते हैं। उनके इस विचार ने भाषाई विश्लेषण के नवीन आयाम को उद्घाटित किया। आरंभ में उन्होंने दो प्रकार के वचनों अर्थात् कथ्यात्मक वचन (Constative Utterance) एवं संपादनात्मक वचन (Performative Utterance) के मध्य भेद किया। कथ्यात्मक वचन सदैव किसी तथ्य या घटना विशेष की सूचना देते हैं अथवा वर्णन करते हैं, इसलिए सत्य (True) या असत्य (False) होते हैं और इनका संबंध कुछ कहने (Saying something) से होता है, यथा–उत्तरप्रदेश के वर्तमान मुख्यमंत्री श्री योगी आदित्यनाथ हैं, घास हरी है आदि। दूसरी ओर संपादनात्मक वचन सदैव किसी न किसी क्रिया को संपादित करते हैं, इसलिए सफल (Happy) या असफल (Unhappy) होते हैं और इनका संबंध कुछ करने (Doing something) से होता है, यथा–मैं किला घाट का उद्घाटन करता हूँ, मैं इस यज्ञ की पूर्णाहुति करता हूँ आदि। कालांतर में आस्टिन ने इस विभेद में कुछ विसंगतियों को देखा। अस्तु, उन्होंने यह स्वीकार किया कि प्रत्येक

वचन कथ्यात्मक के साथ–साथ संपादनात्मक भी होते हैं, यथा–सूर्योदय हो रहा है। एक ओर यह सूचना या अभिकथन के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, तो दूसरी ओर यह वचन स्वयं एक क्रिया को भी संपादित करता है। इस कारण उन्होंने वाक्–क्रिया सिद्धांत को प्रतिपादित करते हुए इस भेद को प्रतिस्थापित किया।

I

आस्टिन ने वाक्–क्रिया सिद्धांत को मुख्यतः तीन क्रियाओं – लोकेशनरी क्रिया (Locutionary Act), इलोकेशनरी क्रिया (Illocutionary Act) एवं परलोकेशनरी क्रिया (Perlocutionary Act) के मध्य विभक्त किया। लोकेशनरी क्रिया सामान्य अर्थ में कुछ 'कहने की क्रिया' (Of saying) है। सामान्यतः जब हम कुछ कहते हैं तो इसमें निश्चित ध्वनि का उच्चारण, व्याकरणिक रूप से उचित शब्दों का उच्चारण एवं निश्चित संदर्भ व बोध का उच्चारण निहित होता है, जिसे उन्होंने क्रमशः फोनेटिक (Phonetic), फेटिक (Phatic) एवं रेटिक (Rhetic) क्रिया कहा। हालाँकि आस्टिन सभी भाषाई प्रयोगों को लोकेशनरी प्रयोग मानने का विरोध करते हैं और उसे वे वर्णनात्मक दोष कहते हैं। उनके अनुसार, "यह कहा जा सकता है कि लंबे समय से दार्शनिकों ने इस अध्ययन की उपेक्षा की है, सभी समस्याओं को 'लोकेशनरी प्रयोग' की समस्याओं के रूप में देखते हुए और वास्तव में 'वर्णनात्मक दोष'...पूर्ववर्ती समस्या को परवर्ती समस्या समझने की भूल के कारण उत्पन्न होता है" (It may be said that for to long philosophers have neglected this study, treating all problems as problems of 'locutionary usage', and indeed that the 'descriptive fallacy'…arises through mistaking a problem of the former kind for a problem of the latter kind.)।[1]

इसी कारण आस्टिन की मान्यता है कि जब हम कुछ 'कहने की क्रिया' करते हैं, तो 'कहने की क्रिया' के साथ–साथ हम 'कहने में क्रिया' (In Saying) को भी संपादित करते हैं, यथा– 'कुत्ता पागल है' वचन कहने की क्रिया में लोकेशनरी क्रिया संपादित हो रही है, लेकिन साथ ही हम कहने में क्रिया अर्थात् श्रोता को चेतावनी या सूचना भी दे सकते हैं एवं इस तरह चेतावनी या सूचना देने में हम इलोकेशनरी क्रिया का भी संपादन करते हैं। पुनश्च, उन्होंने सभी भाषाई प्रयोग को इलोकेशनरी प्रयोग भी नहीं कहा है,

क्योंकि उनका मानना है कि भाषाई प्रयोग की कोई एक अवधारणा नहीं है, अपितु अनेक ऐसे संदर्भ हैं जिनमें हम भाषा के प्रयोग को स्पष्ट कर सकते हैं, जो कि लोकेशनरी, इलोकेशनरी, परलोकेशनरी से एवं अन्य प्रयोग अर्थात् 'गैर–गंभीर' या 'एटियोलेशन' से संबंधित होता है। उनके शब्दों में, "हमें यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि 'भाषा के प्रयोग' की अभिव्यक्ति अन्य स्थितियों को भी निहित कर सकती है जो इलोकेशनरी एवं पर–लोकेशनरी क्रियाओं की तुलना में अधिक विविध है। इसमें एटियोलेशन्ज, पराश्रयी प्रयोग आदि, विविध 'गैर–गंभीर' एवं 'गैर–पूर्णसामान्य' प्रयोग हैं" (Let us be quite clear that the expression 'use of language' can cover other matters even more diverse than the illocutionary and perlocutionary acts…There are etiolations, parasitic uses, etc., various 'not serious' and 'not full normal' uses.)।[2] उनके इस दृष्टिकोण ने फ्रांसीसी दार्शनिक जैक्स डेरिडा (Jacques Derrida) को अत्यंत प्रभावित किया, जिसने वाक्–क्रिया की अवधारणा की व्यावहारिकता के विरुद्ध स्थिति को व्यक्त करने को ही अपनी प्रेरणा माना। इसी कारण डेरिडा ने अपने आलेख *"Signature Event Context"* (1972) में टिप्पणी किया कि गैर– गंभीर अभिप्राय के प्रयोग के लिए भाषाई अभिव्यक्तियों की उपलब्धता भाषा का पर्दाफाश करने वाली एक विशेषता है (जिसे उसने 'Iterability' कहा) और आस्टिन को यह कहकर इसे नहीं छिपाना चाहिए कि भाषाओं का गैर–गंभीर प्रयोग उनके विमर्श का मुख्य विषय नहीं है एवं उन्हें गैर–गंभीर या गैर–मानक जैसे नकारात्मक लक्षण नहीं प्रदान करने चाहिए, जैसे– उन्हें पराश्रयी या एटियोलेशन कहकर संबोधित किया जाता है।[3]

ध्यातव्य हो कि डेरिडा के द्वारा आस्टिन की वाक्–क्रिया के ऐसे विश्लेषण के कारण ही दर्शनजगत् में "सर्ल–डेरिडा–विवाद" का उद्भव हुआ। इसीलिए जे. आर.सर्ल (J.R. Searle) ने अपने आलेख *"Reiterating the Différences: A Reply to Derrida"* (1977) में कहा कि डेरिडा की आलोचना अनुचित है, क्योंकि उसने यह मान लिया कि आस्टिन के सिद्धांत ने भाषा एवं अर्थ का संपूर्ण विवरण देने का प्रयास किया था, जबकि उनका उद्देश्य इससे पृथक् था। इसीलिए आस्टिन के इस सीमित क्षेत्र के विश्लेषण के द्वारा पराश्रयी गवेषणा की त्रुटि औचित्यपूर्ण है। साथ ही डेरिडा के

असहमति का कारण यह था कि वे आस्टिन के वर्गीकरण को समझने में विफल रहे।[4] यद्यपि वर्तमान उद्देश्य इस विवाद का विस्तृत विवेचन करना नहीं है, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि गैर–गंभीर प्रयोग को पृथक् रखने में आस्टिन का वास्तविक उद्देश्य वक्ता के गहन अभिप्राय से उत्पन्न वास्तविक वाक्–क्रियाओं का प्रतिरक्षण करना नहीं था, बल्कि साधारण भाषा–दर्शन के सुप्रसिद्ध दार्शनिक लुडविग विट्गेन्सटाइन (Ludwig Wittgenstein) के इस विचार की समीक्षा करना था कि भाषा के अनंत प्रयोग हैं और जिसके अंतर्गत उसने भाषाई प्रयोग की विषम सूची प्रस्तुत किया है जो आदेश देने, वर्णन करने, धन्यवाद देने से लेकर कहानी सुनाने, नाटक करने, अनुवाद करने आदि को समाविष्ट करती है। आस्टिन का उद्देश्य यह प्रदर्शित करना था कि यदि भाषाई प्रयोग पर ध्यान देने से हमें भाषा (Language) एवं वाक् (Speech) के संबंध को समझने में सहायता मिलती है, तो हमें ऐसी विषम सूची के स्थान पर उस सटीक भाव को समझना चाहिए जिसमें भाषा का प्रत्येक कथित प्रयोग प्रयुक्त होता है। वास्तव में आस्टिन के लिए लोकेशनरी, इलोकेशनरी, परलोकेशनरी एवं साथ ही एटियोलेशन भाषाई प्रयोग के अनन्य प्रकार न होकर विश्लेषण की श्रेणियाँ हैं जो किसी वाक्–क्रिया पर लागू होती हैं और परस्पर स्वतंत्र होती हैं, यथा– एटियोलेशन श्रेणी में मजाक करना, नाटक करना, कथा या कविता सुनाना आदि निहित है, वहीं इलोकेशनरी श्रेणी में वादा करना, दावा करना, प्रश्न करना, चेतावनी देना आदि निहित है।

इसके अतिरिक्त, जब हम 'कहने की क्रिया' के द्वारा कुछ अन्य क्रिया अर्थात् 'कहने में क्रिया' या इलोकेशनरी क्रिया करते हैं, तो अब प्रश्न उठता है कि इलोकेशनरी क्रिया क्या है? इसका निर्धारण कैसे होगा? आस्टिन इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि इसके निर्धारण हेतु हम लोकेशन का प्रयोग किस तरह कर रहे हैं इसे देखना होगा। इस रूप में हम अपने वचनों का प्रयोग विभिन्न ढंग से कर सकते हैं, जैसे–प्रश्न पूछना, उत्तर देना, सूचना देना, वादा करना आदि। इससे वचन की 'शक्ति' (Force) निर्धारित होती है। निःसंदेह प्रत्येक वचन में उसके 'अर्थ' (Meaning) के अलावा कुछ करने की 'शक्ति' भी निहित होती है, इसे ही आस्टिन ने इलोकेशनरी शक्ति (Illocutionary force) की संज्ञा दिया है। हालाँकि आस्टिन ने लोकेशनरी एवं इलोकेशनरी क्रिया के संबंध में 'अर्थ एवं शक्ति'

का भेद किया है और उनके इस योगदान ने साधारण भाषा दर्शन को अत्यंत समृद्ध किया, तथापि इससे पूर्व 'शक्ति' शब्द का प्रयोग जी.फ्रेगे (G. Frege) के द्वारा किया गया है, जिन्होंने वाक्य द्वारा अभिव्यक्त विचार को 'अभिकथनात्मक शक्ति' (Assertive force) से पृथक् किया है और जिससे प्रभावित होकर आस्टिन ने इस शब्द का प्रयोग किया है।[5] फ्रेगे का मत है कि वक्ता जब यह निर्णय देता है कि अभिव्यक्त विचार सत्य है या असत्य है, तब वह अभिकथनात्मक शक्ति के साथ वाक्य का प्रयोग करता है। जहाँ फ्रेगे ने 'शक्ति' को सत्य या असत्य के मूल्यांकन तक सीमित रखा, तो वहीं आस्टिन इसके स्थान पर 'शक्ति' शब्द का प्रयोग इलोकेशनरी क्रिया से संबंधित भाषा के सभी प्रयोगों एवं प्रकार्यों के लिए करते हैं। आस्टिन का तर्क है कि "...कुछ कहने की किसी क्रिया के सम्पादन के विपरीत कुछ कहने में किसी क्रिया का सम्पादन; मैं संपादित क्रिया को 'इलोकेशन' कहता हूँ एवं प्रश्न के अधीन भाषा के विविध प्रकार के प्रकार्यों के सिद्धांत को 'इलोकेशनरी शक्तियों' के सिद्धांत के रूप में संदर्भित करूंगा। मैं अर्थ एवं शक्ति में अंतर करना चाहता हूँ इस रूप में कि अर्थ संदर्भ एवं बोध के समान है..." (…performance of an act *in* saying something as opposed to performance of an act *of* saying something; I call the act performed an 'illocution' and shall refer to the doctrine of the different types of function of language here in question as the doctrine of 'illocutionary forces'…I want to distinguish *force* and *meaning* in the sense in which meaning is equivalent to sense and reference…)।[6] इस प्रकार अर्थ एवं शक्ति के मध्य अंतर से लोकेशनरी एवं इलोकेशनरी क्रिया के मध्य अंतर भी स्पष्ट होता है जो निम्नलिखित है–

लोकेशनरी क्रिया अपने शाब्दिक अर्थ से संयुक्त होती है, जबकि इलोकेशनरी क्रिया शक्ति के साथ संयुक्त होती है। प्रायः किसी शब्द या वाक्य का निश्चित अर्थ होता है, किंतु शक्ति के संबंध में इसका अर्थ भिन्न–भिन्न हो सकता है। इसकी पुष्टि करते हुए पी. एफ.स्ट्रासन (P.F. Strawson) ने लिखा, "आस्टिन किसी वचन की इलोकेशनरी शक्ति को जिसे वे उसका 'अर्थ' कहते हैं, से पृथक् करते हैं और वचन जारी करने में संपादित लोकेशनरी एवं इलोकेशनरी क्रिया के मध्य अंतर करते हैं"(Austin distinguishes the illocutionary force of an utterance from what he

calls its 'meaning' and distinguishes between the illocutionary and the locutionary act performed in issuing the utterance.)।[7]

लोकेशनरी क्रिया विषय केंद्रित होती है, जबकि इलोकेशनरी क्रिया दर्शक केंद्रित होती है।

लोकेशनरी क्रिया अभिप्रायात्मक नहीं हो सकती, जबकि इलोकेशनरी क्रिया सदैव अभिप्रायात्मक होती है।

लोकेशनरी क्रिया भाषा से संबंधित होती है, जबकि इलोकेशनरी क्रिया का संबंध वाक् (Speech) से होता है।

लोकेशनरी क्रिया परंपरागत होती है, यथा–अभिवादन (Obeisance) की क्रिया को संपादित करना, जिसमें यह अभिवादन है, क्योंकि यह परंपरागत है और यह संपादित होता है, क्योंकि यह मात्र परंपरागत है। परंतु इलोकेशनरी क्रिया परंपरागत होने के साथ–साथ अशाब्दिक भी होती है। आस्टिन के अनुसार, "...इलोकेशनरी क्रिया, उदाहरण के लिए एक चेतावनी, इसे एक परंपरागत अशाब्दिक क्रिया होना चाहिए..." (…illocutionary act, for example a warning, it must be a *conventional* non-verbal act…)।[8] मैट्स फर्बर्ग (Mats Furberg) ने भी लिखा, "इसलिए, लोकेशनरी आयाम अनिवार्यतः परंपरागत है, जो भाषा के नियमों द्वारा शासित है" (Hence, the locutionary dimension is essentially conventional, governed by the rules of language.)।[9]

इसके अतिरिक्त, आस्टिन का मत है कि 'कहने की क्रिया' और 'कहने में क्रिया' के साथ–साथ हम 'कहने के द्वारा' (By saying) भी कुछ न कुछ क्रिया अवश्य संपादित करते हैं, जिसे वे परलोकेशनरी क्रिया कहते हैं। उनका मानना है कि हम कुछ 'कहने के द्वारा' श्रोता की भावनाओं, विचारों, क्रियाओं, निर्णयों पर कुछ परिणामी प्रभाव उत्पन्न करते हैं, जैसे– 'मेरी बिल्ली काटती है' वचन कहने के द्वारा मैं किसी को इसे न खरीदने के लिए राजी कर सकता हूँ या फिर बिल्ली से दूर रहने के लिए आश्वस्त कर सकता हूँ कि बिल्ली खतरनाक है आदि। इसके अतिरिक्त लोकेशनरी, इलोकेशनरी एवं परलोकेशनरी क्रिया में अंतर इस रूप में समझा जा सकता है कि जब भी हम कुछ कहते हैं तो सर्वप्रथम 'कहने की' क्रिया करते हैं, जिसका संबंध मैंने क्या कहा (What I Say) से होता है, फिर 'कहने में' क्रिया करते हैं, जिसका संबंध मेरा क्या अभिप्राय है (What I Mean) से

होता है और अंत में 'कहने के द्वारा' भी क्रिया करते हैं, जिसका संबंध वास्तविकता में क्या घटित हुआ (What Actually happened) से होताहै। इसे ही क्रमशः लोकेशनरी, इलोकेशनरी एवं परलोकेशनरी क्रिया कहा जाता है, जिसे संक्षेप में हम 'की' (Of), 'में' (In) एवं 'द्वारा' (By) के माध्यम से प्रदर्शित कर सकते हैं।

II

कालांतर में आस्टिन ने इलोकेशनरी क्रिया पर विशेष बल दिया। इसी कारण आस्टिन स्वयं उद्घोषित करते हैं कि, "इन व्याख्यानों में हमारी रुचि अनिवार्य रूप से द्वितीय, इलोकेशनरी क्रिया पर ध्यान केंद्रित करना एवं अन्य दो के साथ इसकी तुलना करना है" (Our interest in these lectures is essentially to fasten on the second, illocutionary act and contrast it with other two.)।[10] आस्टिन ने इलोकेशनरी क्रिया के लिए 'सुनिश्चित समझ' (Securing uptake) पर बल दिया अर्थात् श्रोता को वक्ता के अर्थ के साथ–साथ शक्ति को भी समझना चाहिए। कभी–कभी श्रोता वचन की शक्ति को समझने में असफल हो सकता है। श्रोता को वक्ता के अभिप्राय को अवश्य समझना चाहिए, अन्यथा वचन असफल होगा। अतः सफल इलोकेशनरी क्रिया के लिए तीन घटक महत्त्वपूर्ण हैं–प्रथम, इसे परंपरागत (Conventional) होना चाहिए, द्वितीय, इसे श्रोता के द्वारा सुनिश्चित रूप से समझा अथवा पहचाना जाना (Securing uptake) चाहिए और तृतीय, प्रतिक्रिया को भी आमंत्रित करना (Inviting a response) चाहिए। इस प्रकार इलोकेशनरी क्रियाएँ तीन प्रभाव से संबंधित होती हैं। हालाँकि ऐसा प्रतीत होता है कि इलोकेशनरी क्रियाएँ प्रभाव के उत्पादन का 'प्रयास' (Attempt) करती हैं, क्योंकि प्रभाव के उत्पादन की 'उपलब्धि' (Achievement) तो परलोकेशनरी क्रिया का लक्षण है। इसी दृष्टि से आस्टिन ने लिखा, "तो यहाँ तीन तरीके हैं, ग्रहण को सुनिश्चित करना, प्रभावी होना एवं प्रतिक्रिया को आमंत्रित करना, जिनमें इलोकेशनरी क्रियाएँ प्रभावों से बंधी हैं; और ये सभी प्रभाव के उत्पादन से भिन्न हैं जो कि परलोकेशनरी क्रिया की विशिष्टता है" (So here are three ways, securing uptake, taking effect, and inviting a response, in which illocutionary acts are bound up with effects; and these are all distinct from the producing of effects which is characteristic of the perlocutionary act.)।[11]

हालाँकि कालांतर में आस्टिन के परवर्ती दार्शनिकों, यथा– पी. एफ. स्ट्रासन, वाल्टर कर्फ (Walter Cerf), एल.जे.कोहेन (L.J. Cohen), जे.आर. सर्ल, एल.डब्लू. फर्गुसन (L.W. Forguson), मैटस् फर्बर्ग, केंट बाख एवं आर. एम. हर्निश (Kent Bach and R.M. Harnish), जी. जे. वार्नाक (G.J. Warnock), स्टीफन शिफर (Stephen Schiffer), डब्लू.पी. एल्स्टन (W.P. Alston) आदि का मानना है कि इलोकेशनरी क्रियाओं के प्रभाव के संबंध में तर्क और उनके द्वारा प्रस्तुत परंपरा की अवधारणा की निश्चितता की कमी के कारण यह स्पष्ट नहीं हो पाता है कि वाक्–क्रिया सिद्धांत के अंतर्गत इलोकेशनरी क्रिया को किस भूमिका के निर्वहन हेतु संरचित किया गया था, क्योंकि आस्टिन के बहुमूल्य विचार विशेषतः इलोकेशनरी क्रिया के प्रभावों के संबंध में लगभग धूमिल प्रतीत होते हैं। यद्यपि इन दार्शनिकों ने इलोकेशनरी क्रिया का विश्लेषण करने के लिए आस्टिन के अतिरिक्त विट्गेन्सटाइन के भाषाई खेल की अवधारणा और नियम–संचालित व्यवहार के रूप में वाक् से संबंधित अवधारणा अर्थात् एच. पी. ग्राइस (H.P. Grice, 1957) का वक्ता के अभिप्राय के रूप में अर्थ का विश्लेषण करने की अवधारणा को किसी न किसी रूप से अपनी प्रेरणा माना है। ध्यातव्य हो कि कुछ परवर्ती दार्शनिकों, जैसे–स्ट्रासन, सर्ल आदि ने इलोकेशनरी क्रिया शब्द का प्रयोग वाक्–क्रिया के समानार्थक रूप में भी किया है।

इसके बावजूद इलोकेशनरी क्रिया की गवेषणा में दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं– परंपरावादी (Conventionalist) एवं अभिप्रायवादी (Intentionalist)। परंपरावादी दार्शनिकों, यथा–सर्ल, एलस्टन आदि ने वक्ता द्वारा इलोकेशनरी क्रिया के सफल संपादन में परंपराओं एवं नियमों की भूमिका पर जोर दिया है, जबकि अभिप्रायवादी दार्शनिकों, यथा–स्ट्रासन, सर्ल, शिफर, बाख एवं हर्निश आदि ने वक्ता के द्वारा इलोकेशनरी क्रिया के सफल संपादन के मूल में उसके अभिप्राय को स्वीकार किया है। परंपरावाद किसी न किसी रूप में बाह्यवादी (Externalist) दृष्टिकोण से संयुक्त हो सकता है; अर्थात् जब परंपराएँ या नियम बाह्य परिस्थितियों एवं वास्तविक व्यवहार से संबंधित होती हैं, लेकिन साथ ही यह अंतःवादी (Internalist) दृष्टिकोण से भी संगत हो सकता है, अर्थात् जब परंपराओं एवं नियमों की विषय–वस्तु मानसिक अवस्थाओं एवं

अभिवृत्तियों से संबंधित होती है, जबकि अभिप्रायवाद अनिवार्यतः आंतरिक दृष्टिकोण से संबंधित होता है। अस्तु, इलोकेशनरी क्रिया से संबंधित दोनों विचारधाराओं परंपरावादी एवं अभिप्रायवादी दृष्टिकोण का क्रमशः विवेचन आवश्यक है।

III

जैसा हम जानते हैं कि आस्टिन संपादनात्मक वचनों के विश्लेषण में कुछ नियमों या शर्तों (A_1-T_2) की चर्चा करते हैं जिनका उल्लंघन होने पर वचन असफल हो जाता है। उन्होंने इसी प्रक्रिया, नियमों एवं सक्षमता की अवधारणा को इलोकेशनरी क्रियाओं पर भी लागू किया है जो कि संपादनात्मक वचनों के सफल संपादन के लिए आवश्यक हैं। इलोकेशनरी क्रिया के इस पहलू ने कुछ दार्शनिकों, जैसे–सर्ल, एलस्टन आदि का ध्यान आकर्षित किया। इसलिए वे इसका पुनर्विश्लेषण करते हैं। सर्ल के अनुसार, "इलोकेशनरी क्रियाओं को संपादित करना नियम–संचालित व्यवहार में संलग्न होना है" (To perform illocutionary acts is to engage in a rule-governed form of behaviour.)।[12] यद्यपि सर्ल की इलोकेशनरी क्रिया की गवेषणा का आरंभ इस प्रश्न के साथ होता है कि किसी प्रदत्त वाक्य के उच्चारण में इलोकेशनरी क्रिया को 'सफलतापूर्वक एवं दोषरहित ढंग' से संपादित करने के लिए कौन सा नियम 'आवश्यक एवं पर्याप्त' (Necessary and sufficient) है। इस रूप में उनकी इलोकेशनरी क्रिया के लिए सक्षमता की शर्तों (Felicity conditions) की गवेषणा 'आवश्यक एवं पर्याप्त' शर्तों की विवेचना है। उनका मानना है कि सर्वप्रथम, ऐसी सामान्य इनपुट एवं आउटपुट शर्तों की प्राप्ति आवश्यक है जिसमें वक्ता में निश्चित इलोकेशनरी क्रिया संपादित करने का अभिप्राय हो एवं वक्ता श्रोता को उसके वचन की 'अर्थ एवं शक्ति' समझाना चाहता हो और साथ ही उच्चारित वचन अभिप्रेत इलोकेशनरी क्रिया के संपादन में उपयुक्त हो। सर्ल के अनुसार, "मैं 'इनपुट' एवं 'आउटपुट' शब्दों का प्रयोग शर्त्तों की विशाल एवं अनगिनत श्रेणी को समाविष्ट करने के लिए करता हूँ...'आउटपुट' में सुस्पष्ट बोलने की शर्त्तें निहित हैं और 'इनपुट' में समझ की शर्त्तें निहित हैं" (I use the term 'input' and 'output' to cover the large and indefinite range of conditions…'Output' covers the conditions for intelligible speaking and 'input' covers the conditions of understanding.)।[13]

पुनश्च, सर्ल ने मुख्यतः चार प्रकार की सक्षमता की शर्तों को प्रस्तुत किया है। प्रथम, प्रस्तावक शर्तें (Preparatory Conditions) अर्थात् वाक्–क्रिया को संपादित करने से पूर्व की शर्तें, यथा–वक्ता के पास कुछ घोषित करने का अधिकार है। द्वितीय, निष्ठा की शर्तें (Sincerity Conditions) अर्थात् वक्ता जो कहता है उसके लिए उसमें वास्तव में वैसा अभिप्राय होना चाहिए, यथा–वादा करने में वक्ता को उस वादे को पूरा करने का अभिप्राय होना चाहिए। तृतीय, प्रतिज्ञप्तिमूलक अंतर्वस्तु की शर्तें (Propositional Content Conditions) अर्थात् वाक्–क्रिया में उपयुक्त अंतर्वस्तु या विषय–वस्तु होनी चाहिए, यथा–वादा करना सदैव भविष्य की क्रिया से संबंधित होना चाहिए, न कि किसी अतीत की घटना से। चतुर्थ, मूलभूत शर्तें (Essential Conditions) अर्थात् क्रिया को स्वयं ही अभिप्रेत क्रिया के सम्पादन के रूप में स्वीकार किया जाता है। माइकल गीज (Michael Geis, 1995) ने सर्ल की इस शर्त्त को 'ट्रांजैक्शनल प्रभाव' कहा है। गीज के शब्दों में, "...सर्ल जिसे 'मूलभूत शर्त्त' कहते हैं, वह उसी का संवादी है जिसे मैं 'ट्रांजैक्शनल प्रभाव' कहूँगा" (…what Searle calls the 'essential condition' corresponds to what I shall be calling the 'transactional effect.)।[14] इस कारण ऐसा प्रतीत होता है कि आस्टिन के कुछ नियमों अर्थात् प्रक्रिया की उपयुक्तता, संपादन की पूर्णता एवं प्रतिभागी की मानसिक स्थिति या अभिवृत्ति के साथ उक्त शर्तों का संगत होना सहज ही है।

यद्यपि सर्ल के द्वारा प्रस्तुत इन सक्षमता की शर्तों के संबंध में गहन विचार करने पर द्योतित होता है कि जहाँ आस्टिन का मानना है कि इलोकेशनरी क्रिया द्वारा लाया गया प्रभाव परंपरागत होता है, जबकि सर्ल का इलोकेशनरी प्रभाव ग्राइसियन अर्थ के विश्लेषण से प्रेरित प्रतीत होता है। इसीलिए सर्ल के अनुसार, "मैं बोलते समय अपने श्रोताओं को कुछ बातें संप्रेषित करता हूँ, ताकि वे पहचान सकें कि मैं उन्हीं बातों को संप्रेषित करने का अभिप्राय रखता हूँ" (In speaking I attempt to communicate certain things to my hearer by getting him to recognize my intention to communicate just those things.)।[15] इसे स्पष्ट करते हुए जोशुआ रस्ट (Joshua Rust, 2009) ने अपनी पुस्तक *John Searle* ने लिखा, "लेकिन इन ग्राइसियन अभिप्रायों को 'इलोकेशनरी'–आस्टिन का शब्द– के रूप में

वर्णित करते हुए सर्ल ने यह नवीन एवं दिलचस्प सुझाव दिया है कि इन अभिप्रायों को आस्टिन के भाषाई व्यवहार के समग्र विवरण में शामिल किया जा सकता है" (But in describing these Gricean intentions as 'illocutionary'- Austin's word- Searle makes the novel and interesting suggestion that these intentions can be *embedded* into Austin's overall account of linguistic behaviour.)।[16]

इसके साथ ही इलोकेशनरी क्रिया के संपादन के लिए अनिवार्य एवं पर्याप्त शर्त्तों में निष्ठा की शर्त्त को समाहित करना भी समस्याजनक प्रतीत होता है, क्योंकि कभी–कभी इस क्रिया के संपादन में अनिष्ठा भी होती है। हालाँकि सर्ल भी इस समस्या से अवगत हैं, इसीलिए आस्टिन का अनुसरण करते हुए वे मानते हैं कि वास्तविक निष्ठा इलोकेशनरी क्रिया के संपादन में आवश्यक नहीं है, बल्कि यह केवल इलोकेशनरी क्रिया के संपादन में कोई दोष उत्पन्न न हो; इसलिए आवश्यक है। इस प्रकार वे मानते हैं कि छलपूर्ण या अनिष्ठापूर्ण वादे भी इसमें निहित हो सकते हैं। फिर भी उनका मत है कि ऐसी असाधारण स्थितियों में भी वक्ता को कम से कम यह अभिप्राय तो रखना ही चाहिए कि उसके वचन के द्वारा उसे उपयुक्त विश्वास या अभिप्राय रखने के लिए उत्तरदायी माना जाए। सर्ल के अनुसार, "अतः अनिष्ठापूर्ण वादों को स्वीकार करने के लिए...वक्ता यह कहने के बजाय कि वास्तव में वह अभिप्राय रखता है, अपने अभिप्राय का उत्तरदायित्व लेता है" (So to allow for insincere promises…the speaker takes responsibility for having the intention rather than stating that he actually has it.)।[17]अस्तु, यदि वक्ता में ऐसे अभिप्राय की कमी है तो न केवल इलोकेशनरी क्रिया दोषग्रस्त होगी, वरन् ऐसा करना उसके संपादन को भी दुर्बल कर देगा।

इस प्रकार सर्ल की सक्षमता की शर्त्तों की संपूर्णता इस बात के लिए प्रेरित करती है कि हम जिन भाषाई उपकरणों का प्रयोग किसी वचन को एक निश्चित इलोकेशनरी शक्ति के रूप में चिन्हित करने हेतु करते हैं, उनका उपयुक्त प्रयोग केवल तभी किया जा सकता है, जब संबंधित इलोकेशनरी क्रिया के संपादन हेतु शर्त्तें पर्याप्त हों। प्रत्युत, वास्तव में यदि परंपरागत वाक्–क्रिया का संपादन सफलतापूर्वक होता है तो यह इसकी सक्षमता की शर्त्तों की पूर्ति को द्योतित करता है, यथा–किसी बिल्ली के

नामकरण की क्रिया के संबंध में यदि नामकरण की क्रिया सफलता से संपादित हुई है तो यह प्रदर्शित करेगा कि बिल्ली का नामकरण हो गया है। इसी के तहत सर्ल ने प्रतिज्ञप्तिमूलक अंतर्वस्तु की शर्त्त के माध्यम से इलोकेशनरी शक्ति का वर्णन करने का प्रयास किया, यथा– 'वर्षा हो रही है', वचन में वर्षा हो रही है उसकी प्रतिज्ञप्तिमूलक अंतर्वस्तु है एवं इस वचन की इलोकेशनरी शक्ति शब्द–विन्यास, स्वर–शैली एवं विरामचिन्ह आदि के द्वारा प्रदर्शित की जाती है। इसीलिए सर्ल ने अपने आलेख *"How Performatives Work"*(1989) में स्पष्टतः लिखा, "Speech Acts (1969) में एवं अन्य आलेखों में मैंने बताया कि सामान्यतः, इलोकेशनरी क्रियाओं की संरचना F(p) होती है...यदि सम्प्रेषण को सफल होना है, तो श्रोता को वाक्य को सुनने से पता लगाने में सक्षम होना चाहिए कि इलोकेशनरी शक्ति (F) क्या है और प्रतिज्ञप्तिमूलक अंतर्वस्तु (p) क्या है" [In Speech Acts (1969) and other writings I pointed out that in general, illocutionary acts have the structure F(p)…If communication is to be successful, the hearer has to be able to figure out from the hearing the sentence what is illocutionary force (F) and what is the propositional content (p).]।[18] ध्यातव्य हो कि वे इस भेद को उचित मानते हैं, किंतु अपूर्ण भी कहते हैं। अस्तु, इस भेद को समाप्त कर देते हैं।

इसके अतिरिक्त, सर्ल एवं वांडरवेकन इलोकेशनरी क्रियाओं की विवेचना के लिए प्रतिज्ञप्तिमूलक अंतर्वस्तु के साथ वाक्–क्रिया के डिक्लेरेशन्स (Declarations) के आयाम का उल्लेख करते हैं। उनका मानना है किसी वाक्य का संबंध शब्द से जगत् की दिशा की अनुरूपता (Direction of Fit) से होता है, लेकिन सक्षमता की शर्त्तों का पालन तभी होगा, जब प्रतिज्ञप्तिमूलक अंतर्वस्तु जगत् से शब्द की दिशा के अनुरूप हो, यथा– 'वर्षा हो रही है' वाक्य का संपादन तभी सफल होगा, जब जगत् में वास्तव में वर्षा हो रही हो। इस प्रकार सर्ल एवं वांडरवेकन का मानना है कि डिक्लेरेशन्स में सदैव दिशा की अनुरूपता के दोनों आयाम, अर्थात् शब्द से जगत् एवं जगत् से शब्द निहित होते हैं।

इसके अतिरिक्त, डब्लू.पी. एल्स्टन (2000) का मानना है कि जब कोई वक्ता किसी वाक्य का उच्चारण करता है, तो वह एक या एक से अधिक परिणाम ला सकता है और इस तरह वे सभी उसके वचन के प्रभाव

होंगे, यथा–वक्ता 'कृपया दरवाजा खोलिए', कहकर श्रोता को दरवाजा खोलने के लिए कहता है या अनुरोध करता है अथवा परेशान करता है या फिर श्रोता पढ़ाई कर रहा है, तो उसे उद्देश्य से भटकाता है। इन सभी के मूल में वाक्य के उच्चारण की क्रिया है जिसे आस्टिन ने फेटिक क्रिया कहा, लेकिन एल्स्टन इसे 'वाक्यात्मक क्रिया' (Sentential Act) की संज्ञा देते हैं, जबकि संपादित क्रियाएँ वस्तुतः इलोकेशनरी एवं परलोकेशनरी क्रियाएँ हैं, परंतु वे इन्हें भिन्न–भिन्न ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास भी करते हैं। एल्स्टन के शब्दों में, "मेरे अपने त्रय...में एक इलोकेशनरी एवं एक परलोकेशनरी स्तर होगा जो मोटे तौर पर.. .भिन्न–भिन्न लक्षण वाली होती है... आस्टिन की फेटिक क्रिया किसी वाक्य के उच्चारण की क्रिया, जिसका 'वाक्यात्मक क्रिया' के रूप में पुनः नामकरण किया गया है" (My own trichotomy…will feature an illocutionary and a perlocutionary level that are roughly…differently characterized…Austin's 'phatic act'] rebaptized as a *'sentential act'*, the act of uttering a sentence.)।[19] पुनश्च, वे इलोकेशनरी क्रिया को ऐसी क्रिया मानते हैं, जिसमें अंतर्वस्तु (Content) निहित होती है जो कि परोक्ष वाक् में सूचित की जाती है, यथा– 'कृपया दरवाजा खोलिए', वचन में वक्ता किसी से कोई निश्चित दरवाजा खोलने के लिए कह रहा है, इस तरह यहाँ इलोकेशनरी क्रिया की अवधारणा प्रयुक्त होती है। यद्यपि आस्टिन से भिन्न उन्हें ऐसा नहीं प्रतीत होता है कि इस वचन के उच्चारण का कोई विशेष प्रकार का प्रभाव होना चाहिए, ताकि वक्ता इसे संपादित करते समय किसी से दरवाजा खोलने के लिए कह सके। फिर भी एलस्टन इलोकेशनरी क्रिया की अभिप्राय– आधृत अवधारणाओं के आरंभिक विचारकों, यथा–ग्राइस, शिफर आदि के विरुद्ध इलोकेशनरी क्रिया को परलोकेशनरी अभिप्राय की एक वाक्यात्मक क्रिया के रूप में परिभाषित करने की आलोचना करते हैं।

ध्यातव्य हो कि एल्स्टन का मानना है कि इलोकेशनरी क्रिया नियम–संचालित या नियम–शासित होती है, लेकिन वे सर्ल की भाँति इलोकेशनरी क्रिया के संपादन के लिए उनके नियमों को 'अनिवार्य एवं पर्याप्त शर्तों' के रूप में नहीं देखते हैं और इलोकेशनरी क्रिया के संपादन एवं संचालित करने वाले नियमों के मध्य एक सूक्ष्म संबंध को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार कोई वक्ता निश्चित इलोकेशनरी क्रिया संपादित कर सकता

है, भले ही वह उसकी एक या अधिक शर्त्तों का उल्लंघन करता हो, यथा—माना कि ‘कृपया दरवाजा खोलिए’, कहने में संदर्भित दरवाजा पहले से ही खुला है, लेकिन फिर भी इसे कहने वाले वक्ता को एक अनुरोध संपादित करने वाला कहा जा सकता है, भले ही यह एक निष्क्रिय अनुरोध है। पुनः, माना कि वक्ता उक्त वचन में श्रोता से किसी अनुरोध करने की स्थिति में नहीं है, तो उसकी क्रिया अनुचित हो सकती है या यहाँ तक कि अनुपयुक्त या गैर—विनम्रता के कारण यह दंड के अधीन हो सकती है, लेकिन फिर भी यह कहा जा सकता है कि उसने अनुरोध प्रेषित किया है। यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि किसी भी इलोकेशनरी क्रिया को नियम—शासित कहने में कुछ न कुछ शर्त्तें अवश्य होनी चाहिए जो वक्ता के लिए इसके सफल संपादन संभव बनाती हों। इसी कारण एल्स्टन उद्धृत करते हैं, ”...संबंधित वचन संपादित करते समय वक्ता को यह पहचानना होगा कि जिस इलोकेशनरी क्रिया को संपादित करने हेतु संरचित किया गया है, वह कुछ नियमों द्वारा शासित है और इसलिए निश्चित शर्त्तें पूर्ण होनी चाहिए“ (…the speaker, in issuing the related utterance, has to *recognize* that the illocutionary act it is designed to perform is governed by certain rules and that therefore certain conditions should hold.)।[20]

इस प्रकार यह मान्यता ही वक्ता को इलोकेशनरी क्रिया संपादित करने में सक्षम बनाती है। चूँकि यदि वक्ता मानता है कि इनमें से कोई एक शर्त्त लागू नहीं होती है, तो इलोकेशनरी क्रिया को संपादित करना असंभव हो जाएगा। इस प्रकार ‘कृपया दरवाजा खोलिए’ उदाहरण के अंतर्गत वक्ता के द्वारा किसी व्यक्ति को किसी निश्चित दरवाजा खोलने के लिए कहने में यह पहचानना होगा कि अनुरोध करने की क्रिया को नियंत्रित या संचालित करने वाले नियम हैं एवं वे शर्त्तें उन पर लागू होती हैं। इसी कारण एल्स्टन मानते हैं कि किसी इलोकेशनरी क्रिया को संपादित करने में वक्ता निश्चित शर्त्तों के लिए ”उत्तरदायित्व ग्रहण“ (Take responsibility) करता है। उक्त विश्लेषण एल्स्टन को कुछ सीमा तक परोक्ष रूप से निश्चित इलोकेशनरी क्रिया के परंपरागत प्रभावों को पहचानने में सक्षम बनाता है, अर्थात् जिसके लिए वक्ता उत्तरदायित्व ग्रहण करता है, परन्तु उनके विश्लेषण में इलोकेशनरी क्रिया के परंपरागत प्रभावों, यथा—वादा करने में वक्ता की

प्रतिबद्धता एवं उनके नियमों के अनुरूप शर्त्तों के मध्य कोई अंतर नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि वक्ता को इलोकेशनरी क्रिया को संपादित करने के लिए दोनों, अर्थात् स्वयं की प्रतिबद्धता एवं संपादित की जाने वाली क्रिया के संपादन के नियम का उत्तरदायित्व लेना पड़ता है। चूँकि इलोकेशनरी क्रिया का संपादन वक्ता द्वारा निश्चित शर्त्तों को पूर्ण करने के उत्तरदायित्व लेने पर निर्भर करता है जो उन शर्त्तों की पर्याप्तता या किसी प्रक्रिया को वास्तव में पूर्ण करने से पृथक् है। इस कारण एल्स्टन की इलोकेशनरी क्रिया की अवधारणा अपने पद्धति के कारण अभिप्राय-आधृत या यहाँ तक कि अंतःवादी दृष्टिकोण में परिणत हो जाती है। अतएव, ऐसा प्रतीत होता है कि नियम-शासित इलोकेशनरी क्रिया की अवधारणा सैद्धांतिक रूप से अभिप्रायवादी दृष्टिकोण का प्रतिरोध नहीं करती है।

IV

भाषाई विश्लेषणात्मक दर्शन में वक्ता के अभिप्राय की चर्चा मुख्यतः ऑक्सफोर्ड दार्शनिक एच.पी.ग्राइस (1957) ने किया है। उनका दृष्टिकोण भाषा एवं अर्थ के संबंध का विश्लेषण करने से संबंधित है। उनका मानना है कि वक्ता के भाषाई अभिव्यक्ति के माध्यम से कुछ कहने के अर्थ के मूल में उसका अभिप्राय निहित होता है। इस अर्थ संबंधी ग्राइस के विश्लेषण ने पी. एफ. स्ट्रासन (1964), सर्ल (1969), स्टीफन शिफर (1972), बाख एवं हर्निश (1979) आदि को अत्यंत प्रभावित किया। यद्यपि ग्राइस ने आस्टिन के इलोकेशनरी क्रिया की चर्चा नहीं की है, तथापि वे इससे अवगत हैं कि भाषा के भिन्न–भिन्न प्रयोग होते हैं। इसीलिए वे वक्ता के अर्थ के अपने विश्लेषण में मूल अभिप्रायों की अंतर्वस्तु के मध्य भेद करते हैं, यथा–वक्ता अपने अभिप्राय से श्रोता में जिस प्रतिक्रिया को उत्पन्न करना चाहता है 'संकेत सूचक वचनों' (Indicative-type Utterance) की स्थिति में उसमें विश्वास निहित हो सकता है या फिर 'आदेश सूचक वचनों' (Imperative-type Utterance) की स्थिति में उसमें कोई क्रिया निहित हो सकती है। ग्राइस के शब्दों में, "...M–अभिप्रेत(M= अर्थ) प्रभाव (प्रतिक्रिया) संकेत सूचक वचनों की स्थिति में यह है कि श्रोता को कुछ विश्वास करना चाहिए और आदेश सूचक वचनों की स्थिति में यह है कि श्रोता को कुछ करना चाहिए" […M-intended (M= meaning) effect (response) is, in the case indicative-type utterances, that the hearer should *believe*

something, and, in the case of imperative-type utterances, that the hearer should *do* something.]।[21]

ध्यातव्य है कि कालांतर में वे संकेत सूचक वचनों के दो प्रकार मानते हैं– एक्जिबिटिव वचन (Exhibitive Utterance) एवं प्रोट्रेप्टिक वचन (Protreptic Utterance)। इस प्रकार कहा जा सकता है कि ये सभी अंतर स्पष्टरूपेण वाक्–क्रिया सिद्धांत के इलोकेशनरी स्तर से संबंधित हैं, क्योंकि वे आस्टिन की दृष्टि से 'प्रतिक्रिया के आमंत्रण' के प्रभाव से संयुक्त हैं। इस कारण प्रतीत होता है कि वास्तव में ग्राइस के वक्ता का अर्थ सदैव कुछ इलोकेशनरी शक्तियों से विशेषतः उसके द्वारा अभिव्यक्त मनोवैज्ञानिक स्थिति या अभिवृत्ति से संबंधित होता है। स्टीफन शिफर (1972) ने अपने इलोकेशनरी क्रियाओं के विश्लेषण में ग्राइसियन विश्लेषण की उक्त विशेषता को पुनः प्रस्तुत किया है। वे वक्ता के जटिल अर्थ के संबंध में दो प्रकार के अभिप्रायों, अर्थात् विश्वास एवं क्रिया पर प्रकाश डालते हैं जो कि अभिकथनात्मक (Assertive) एवं आदेश सूचक (Imperative) वाक्–क्रिया के साथ संगत है। शिफर उन साधनों पर भी विचार करते हैं, जिनके द्वारा वक्ता अपने अभिप्राय को पूर्ण करने का अभिप्राय रखता है और वे वाक्य प्रकार (Sentence type) जैसे मुख्य भाषाई इलोकेशनरी शक्ति संकेतक के साथ संबंध स्थापित करने का भी प्रयत्न करते हैं।[22]

हालाँकि पी. एफ. स्ट्रासन ने अपने आलेख *"Intention and Convention in Speech Acts"* (1964) में इलोकेशनरी क्रिया एवं वक्ता के अर्थ के मध्य के संबंध को स्पष्ट करने में निर्णायक योगदान दिया। ध्यातव्य हो कि उन्होंने इलोकेशनरी क्रिया के अंतर्गत दो महत्त्वपूर्ण घटक माना है जिसमें पहला, वक्ता के द्वारा अनुसरण की जाने वाली परंपरा से तथा दूसरा, वक्ता के विशिष्ट अभिप्राय से संबंधित है। उनका मानना है कि वक्ता के अभिप्राय को श्रोता पर प्रभाव लाने के अभिप्राय के रूप में विवेचित किया जा सकता है, जिसमें श्रोता के द्वारा उस प्रभाव को लाने के अभिप्राय की पहचान की जाती है जिसे प्रायः संप्रेषणात्मक अभिप्राय कहा जाता है। इसी कारण स्ट्रासन लिखते हैं, "...वक्ता के पास किसी भी व्यक्ति के अभिप्रायों के विषय पर बोलने का प्राधिकार है और जो अभिप्राय मैंने दिखाने की कोशिश की है वह सम्प्रेषण की क्रिया से अविभाज्य है" (…the speaker has the *authority* that anyone has to speak on the subject of his intentions

and the *motive* that I have tried to show is inseparable from an act of communication.)।[23]

इसके अतिरिक्त जॉन सर्ल वक्ता के अर्थ एवं सुनिश्चित ग्रहण संबंधी इलोकेशनरी क्रिया की स्ट्रासन की अवधारणा से काफी हद तक सहमत हैं और साथ ही वे भी ग्राइस के द्वारा प्रस्तुत वक्ता के अर्थ की अवधारणा की आलोचनात्मक रूप से सराहना करते हैं। सर्ल का मानना है कि प्रथमतः श्रोता को वक्ता के द्वारा उच्चारित वचन के अर्थ को समझाने के लिए वक्ता के मूल अभिप्राय को निर्देशित किया जाना चाहिए और द्वितीयतः यह समझ उच्चारित वचन को संचालित करने वाले नियमों का श्रोता को कितना ज्ञान है इस पर निर्भर होना चाहिए। इसीलिए वे इलोकेशनरी क्रियाओं की विवेचना में परंपरा के साथ–साथ अभिप्राय को भी महत्त्व देते हैं। सर्ल के अनुसार, "इलोकेशनरी क्रियाओं के हमारे विश्लेषण में, हमें अभिप्रायात्मक एवं परंपरागत दोनों आयामों एवं विशेष रूप से उनके मध्य के संबंध को ग्रहण करना होगा" (In our analysis of illocutionary acts, we must capture both the *intentional* and the *conventional* aspects and especially the relationship between them.)।[24] इस प्रकार जब इलोकेशनरी क्रियाओं को उन अभिप्रायों पर आधृत माना जाता है, जिन्हें पहचाना जाना है, तो प्रश्न उठता है कि श्रोता द्वारा वक्ता के अभिप्राय की पहचान कैसे की जाए? इसके उत्तर में सर्ल, ग्राइसियन विचार के प्रभाव में मानते हैं कि प्रयोग की गई भाषाई अभिव्यक्तियों को संचालित करने वाले नियमों के कारण ही श्रोता, वक्ता के अभिप्राय को पहचान सकता है।

यद्यपि सर्ल जब मानते हैं कि इलोकेशनरी क्रिया के सफल संपादन में अभिप्राय एवं परंपरा दोनों की समान भूमिका है, तो उनका तर्क समस्याजनक प्रतीत होता है। चूँकि जब वक्ता किसी निश्चित इलोकेशनरी क्रिया का संपादन करता है, तो श्रोता विभिन्न सामाजिक परिवेश में निहित परंपराओं के नियमों के अनुरूप वक्ता के अभिप्राय को पहचानने का प्रयास करता है, जिसमें प्रायः श्रोता या तो कोई त्रुटि कर देता है या फिर वक्ता के अभिप्राय को सीमित रूप में ग्रहण कर पाता है। इस प्रकार यदि इलोकेशनरी क्रियाएँ नियम–संचालित या परंपराजन्य हैं, तो ऐसे में वक्ता का अभिप्राय महत्त्वपूर्ण नहीं है। दूसरे शब्दों में, किसी निश्चित परंपरा में संपादित इलोकेशनरी क्रिया में वक्ता के अभिप्राय को पहचानने की श्रोता को

आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ऐसी स्थिति में वक्ता का अभिप्राय हो अथवा न हो, तब भी इलोकेशनरी क्रिया संपादित होगी, यथा–प्रधानमंत्री की शपथ ग्रहण के दौरान प्रधानमंत्री का 'मैं शपथ लेता हूँ कि भारत की प्रभुता एवं अखंडता को अक्षुण्ण रखूंगा' कहना ही शपथ लेने की इलोकेशनरी क्रिया को सफलता से संपादित करेगा, क्योंकि इस वचन में उनके अभिप्राय को श्रोता को पहचानने की आवश्यकता नहीं है।

पुनश्च, यदि किसी निश्चित इलोकेशनरी क्रिया का संपादन करने में कोई निश्चित परंपरा नहीं है, तो वहाँ वक्ता का अभिप्राय महत्त्वपूर्ण होता है जिसे पहचानना श्रोता के लिए अतिआवश्यक है, अन्यथा इलोकेशनरी क्रिया सफलता से संपादित नहीं होगी। यद्यपि ऐसी स्थिति में यह गवेषणा का विषय है कि श्रोता इन अभिप्रायों को कैसे पहचाने, तथापि श्रोता परोक्ष रूप से अनुमान करके वक्ता के वास्तविक अभिप्राय को पहचान सकता है। अस्तु, यह कहना उचित होगा कि इलोकेशनरी क्रिया में जहाँ कुछ स्थितियों में परंपरा प्राथमिक होती है एवं अभिप्राय गौण होता है, तो वहीं अन्य स्थितियों में अभिप्राय प्राथमिक होता है एवं परंपरा गौण हो जाती है। इसी दृष्टि से आर.के. पाण्डेय ने अपने आलेख *"How Performatives Exactly Work"* (2003) में लिखा, "इसलिए वह (श्रोता) परोक्ष रूप से ग्राइसियन तंत्र द्वारा वक्ता के वास्तविक अभिप्राय का अनुमान करने का प्रयास करता है। निःसंदेह, परंपरा अभिप्राय को प्रतिबिंबित नहीं करती है और अभिप्राय परंपरा द्वारा आसानी से प्रकट नहीं किया जा सकता है" (He, therefore, indirectly endeavor to infer the real intention of the speaker by Gricean mechanism. Apparently, convention does not reflect the intention and intention may not be easily revealed by convention.)।[25]

इसके अतिरिक्त, सर्ल ऐसी स्थितियों जिन्हें परंपरागत इलोकेशनरी शक्ति के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता, उनके लिए इलोकेशनरी शक्ति के अनुमान आधारित दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं, ताकि श्रोता वक्ता के अभिप्राय को ठीक ढंग से समझ एवं पहचान सके। इसीलिए वे 'अपरोक्ष वाक्–क्रिया' (Direct Speech Act) एवं 'परोक्ष वाक्–क्रिया' (Indirect Speech Act) के मध्य भेद करते हैं। उनका मानना है कि कुछ इलोकेशनरी क्रियाओं का उच्चारण (यथा– अनुरोध) प्रायः परंपरागत रूप से संरचित

इलोकेशनरी क्रियाओं के द्वारा भाषाई रूप में स्पष्टतः नहीं हो पाता है, यथा– 'क्या आप मुझे पानी दे सकते हैं?' वचन में भिन्न–भिन्न इलोकेशनरी शक्तियाँ प्रकट होती हैं। चूँकि इस वचन का भाषाई रूप प्रश्नवाचक है, किंतु इसमें हम इसके घटक शब्दों पर ध्यान दें, तो इसके अर्थ भिन्न–भिन्न होंगे, यथा– 'आप मुझे' पर बल देने पर प्रतीत होगा कि कम से कम आप तो मुझे पानी देने में सक्षम नहीं है, ऐसी स्थिति में वक्ता का अभिप्राय व्यंग्यात्मक है। शायद इसीलिए सर्ल परोक्ष वाक्–क्रिया पर बल देते हैं। उनका मानना है कि उक्त वचन भले ही भाषागत रूप से प्रश्नवाचक हो, लेकिन इसमें वक्ता परोक्ष रूप से प्रश्न के स्थान पर अनुरोध कर रहा है। इसीलिए सर्ल ने तर्क दिया, "परोक्ष वाक्–क्रियाओं में वक्ता, श्रोता से अपनी भाषाई एवं गैर–भाषाई दोनों पारस्परिक रूप से साझा पृष्ठभूमि की जानकारी पर विश्वास करके, साथ ही श्रोता के अनुमान एवं तर्कसंगतता की सामान्य शक्तियों के साथ वस्तुतः जितना कहता है उससे अधिक संप्रेषित करता है" (In indirect speech acts the speaker communicates to the hearer more than he actually says by way of relying on their mutually shared background information, both linguistic and non-linguistic, together with the general powers of rationality and inference on the part of hearer.)।[26] यद्यपि कभी–कभी वक्ता, श्रोता के लिए कोई प्रतिज्ञप्ति अभिव्यक्त नहीं करता है और न ही वह प्रत्यक्षतः अनुरोध करता है, लेकिन संदर्भगत उपयुक्त समझ एवं संदर्भ विशेष में उसके परोक्ष वचन के अभिप्राय को समझा अवश्य जा सकता है, यथा– 'मुझे चाय तनिक ज्यादा मीठी पसंद है' इस वचन में वक्ता का अभिप्राय न तो भाषाई प्रतिज्ञप्ति को अभिव्यक्त करना है एवं न ही प्रत्यक्षतः अनुरोध करना है, किंतु वह श्रोता से परोक्ष रूप से मेज पर रखी चीनी चाय में डालने की अपेक्षा कर रहा है।

इसके अतिरिक्त, इलोकेशनरी क्रिया की अनुमान-आधृत अवधारणा में सर्वाधिक योगदान केंट बाख एवं आर. एम. हर्निश (1979) का है। यद्यपि उनके दृष्टिकोण की प्रेरणा ग्राइसियन विचार ही है। अस्तु, वे भी वक्ता के जटिल अभिप्राय पर ध्यान केंद्रित करते हैं, जिसे प्रायः रिफ्लेक्सिव अभिप्राय (Reflexive intention) कहा जाता है, क्योंकि उनकी अंतर्वस्तु में यह निहित है कि उन्हें पहचाना जाए। इलोकेशनरी क्रियाओं के विश्लेषण में बाख एवं हर्निश ने स्ट्रासन एवं सर्ल का अनुसरण करते हुए वक्ता के मूल

अभिप्राय की अंतर्वस्तु को वक्ता के वचन को समझने तक ही सीमित रखा है; जिसे वे 'इलोकेशनरी अभिप्राय' (Illocutionary intent) की संज्ञा देते हैं। इस प्रकार उनका वाक्–क्रिया के गठन एवं समझने की प्रक्रिया का अनुमानात्मक विश्लेषण वक्ता के भाषाई अभिव्यक्ति के उच्चारण से आरंभ होता है एवं अनुमान के माध्यम से क्रमशः लोकेशनरी एवं इलोकेशनरी क्रिया तक ले जाता है, जिसे वे 'वाक्–क्रिया–स्कीमा' (Speech Act Schema) कहते हैं। बाख एवं हर्निश के अनुसार इन अनुमानों में अंतर्वस्तु (Content), संदर्भ (Context), एवं संप्रेषणात्मक अभिप्राय (Communicative Intentions) यह तीन महत्त्वपूर्ण घटक हैं। इसके साथ ही अनुमान की प्रक्रिया के मूल में जब वक्ता कोई वचन उच्चारित करता है, तो उसमें 'परस्पर संदर्भगत विश्वासों' (Mutual contextual belief) के समूह के साथ–साथ दो अन्य घटक निहित होते हैं, जिनमें श्रोता अनुमान करता है। उनमें से सर्वप्रथम 'भाषाई पूर्वानुमान' (Linguistic presumption) है, जिसमें वक्ता क्या कह रहा है यह पहचानने के लिए श्रोता अपने ज्ञान का प्रयोग कर सकता है और द्वितीयतः 'संप्रेषणात्मक पूर्वानुमान' (Communicative presumption) है, जिसमें वक्ता जो कह रहा है वह किसी पहचानने योग्य इलोकेशनरी अभिप्राय के साथ कह रहा है। इसीलिए बाख एवं हर्निश ने लिखा, "परस्पर संदर्भगत विश्वासों के अलावा, दो सामान्य पारस्परिक विश्वास हैं जिन पर श्रोता अपना अनुमान लगाने हेतु निर्भर होता है... हम उन्हें भाषाई पूर्वानुमान एवं संप्रेषणात्मक पूर्वानुमान कहते हैं "(In addition to mutual contextual beliefs, there are two general mutual beliefs that the hearer relies on to make his inference…We call them the *linguistic presumption* and the *communicative presumption*.)।[27] इस रूप में लोकेशनरी क्रिया से इलोकेशनरी क्रिया की पहचान तक के चरण में संप्रेषणात्मक पूर्वानुमान एवं प्रासंगिक परस्पर संदर्भगत विश्वासों का प्रयोग किया जाता है।

इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने वाक्–क्रिया–स्कीमा के लिए तीसरे पूर्वानुमान, अर्थात् शाब्दिकता का पूर्वानुमान (The presumption of literalness) को भी महत्त्वपूर्ण माना है। इसे परिभाषित करते हुए उन्होंने लिखा, "भाषाई समुदायों में यह पारंपरिक विश्वास है कि यदि अभिव्यक्ति करते समय वक्ता; परिस्थितियों के तहत शाब्दिकतः बोल सकता है, तो वक्ता

शाब्दिकरूपेण बोल रहा है" (The mutual belief in the linguistic community (C_L) to the effect that if in uttering *e* (expression), *S* (speaker) could (under the circumstances) be speaking literally, then *S* is speaking literally.)।[28] इस तरह इन सभी मान्यताओं का प्रयोग करते हुए बाख एवं हर्निश ने अपने वाक्–क्रिया स्कीम को विकसित किया, जो यह वर्णन करने का प्रयत्न करता है कि श्रोता किसी वचन से कैसे इलोकेशनरी क्रिया का अनुमान कर सकता है।

हालाँकि बाख एवं हर्निश का मत है कि श्रोता को इसके आगे का अनुमान करने के लिए 'शाब्दिक एवं अशाब्दिक' (Literal and Non-literal) के साथ–साथ 'प्रत्यक्ष एवं परोक्ष' (Direct and Indirect) इलोकेशनरी क्रियाओं के मध्य भेद करना आवश्यक है।[29] ध्यातव्य हो कि इससे पूर्व आस्टिन ने भी शाब्दिक के साथ–साथ अशाब्दिक (Non-verbal) क्रियाओं की संभावना को स्वीकार किया है, यथा– बिना कुछ कहे केवल हाथ जोड़कर वक्ता किसी से नमस्कार या अनुरोध कर सकता है आदि। हालाँकि आर.के. पाण्डेय अपनी पुस्तक *Speech Act and Linguistic Communication* में अशाब्दिक वाक्–क्रिया (Non-Verbal Speech Act) का विस्तृत विमर्श करते हुए उसके अंतर्गत तीन प्रमुख आयाम मानते हैं– दृश्य (Visible), अदृश्य (Invisible) एवं भाषातीत (Paralinguistic)।[30] उन्होंने दृश्य आयाम को अशाब्दिक वाक्–क्रिया का महत्त्वपूर्ण एवं व्यावहारिक आयाम माना है। इसका अधिकांश प्रयोग दैनंदिन में नाटक में या मूक–बधिर लोगों के द्वारा अपने विचारों, भावनाओं, अभिप्रायों को अभिव्यक्त करने में किया जाता है। दृश्य आयाम में शारीरिक भाषा, दृष्टि संपर्क, चेहरे के हाव–भाव इत्यादि का प्रयोग होता है, यथा–प्रायः कक्षा में विद्यार्थी अपनी अरुचि को अपने हाव–भाव द्वारा व्यक्त करते हैं। इसी प्रकार कुछ स्थितियाँ ऐसी होती हैं जब वक्ता न तो कुछ बोलता है न ही किसी प्रकार की शारीरिक गतिविधि करता है, बल्कि पूर्णतया मौन रहता है, तथापि मौन में कभी–कभी वक्ता कुछ न कहकर भी बहुत कुछ कह जाता है और श्रोता अपने विवेक के अनुरूप विविध अर्थ ग्रहण करता है, जैसे–किसी आत्मीय जन की मृत्यु होने पर व्यक्ति कुछ न कह कर भी बहुत कुछ कहता है; अर्थात् अपने दुःख को व्यक्त करने के लिए उसके पास शब्द कम पड़ जाते हैं तो वह व्यक्ति मौन धारण कर लेता है। इसे अशाब्दिक वाक्–क्रिया

का अदृश्य आयाम कहा जाता है। इसके अतिरिक्त भाषातीत आयाम के अंतर्गत मूलतः अर्थ (Meaning) एवं शक्ति (Force) के विभेद को महत्त्वपूर्ण माना जाता है, जिसमें भाषा के शाब्दिक अर्थ के स्थान पर वक्ता के अभिप्राय को मूल अर्थ के रूप में स्वीकार किया जाता है, यथा–जब कोई लड़का किसी लड़की से अपने प्रेम की अभिव्यक्ति करता है, किन्तु लड़की उसे मना कर देती है एवं तत्क्षण मुस्कराती है, तो यहाँ लड़की के शाब्दिक अर्थ एवं अभिप्राय में भिन्नता होने पर उसके अभिप्राय को विश्वसनीय माना जाएगा।

पुनश्च, कालांतर में बाख एवं हर्निश मानते हैं कि भले ही वाक्–क्रिया–स्कीमा, वाक्–क्रियाओं की व्याख्या कैसे की जाती है, इसकी सटीक प्रतिकृति या मॉडल ना हो, फिर भी यह कम से कम श्रोता द्वारा किए गए अनुमानों का तार्किक पुनर्गठन (Rational reconstruction) हो सकता है। इसीलिए उन्होंने स्वीकार किया कि वाक्–क्रिया–स्कीमा इसकी रणनीति का मात्र आधारभूत चरण है। उनके शब्दों में, "हम उनके सभी अवयवों को आसानी से नहीं पहचान पाते हैं, यह उनकी जटिलता एवं सूक्ष्मता को प्रमाणित करता है, न कि उनके अस्तित्वहीनता या स्पष्ट सरलता को" (That we cannot readily identify all their ingredients attests to their complexity and subtly, not to their non-existence or blatant simplicity.)।[31] इसके साथ ही साथ वे परोक्ष वाक्–क्रिया को तर्कसंगत बनाने का प्रयास करते हैं, जो कि सर्ल के दर्शन में अनुपस्थित है। वे स्पष्टरूपेण उन क्रियाओं से चिंतित हैं, जो उनके वाक्–क्रिया–स्कीमा के अनुरूप नहीं है। इसमें मानक रूपों, यथा–क्या आप नमक पास कर सकते हैं आदि का प्रयोग निहित है। उनका मत है कि इस प्रकार की वाक्–क्रिया के लिए अनुमान की वाक्–क्रिया–स्कीमा इसे दरकिनार (Short-circuited) करती है, अर्थात् श्रोता स्कीम के चरणों के स्थान पर सीधे उस भाग में जा सकता है, जो परोक्ष वाक्–क्रियाओं से संबंधित है। वे स्वीकार करते हैं कि यह उनकी स्कीमा के लिए समस्याजनक है, क्योंकि यदि स्कीमा इसे दरकिनार करती है, तो शाब्दिक अभिप्राय को प्राथमिक मानने एवं वक्ता के अभिप्राय का अनुमान करने के स्थान पर श्रोता इसकी खोज किए बिना तत्क्षण परोक्ष अभिप्राय की पहचान कर सकता है। इसीलिए यह प्रतिपन्न करता है कि मानक परोक्ष रूप, यथा–क्या आप नमक पास कर सकते हैं आदि को व्यवस्थित रूप से अस्पष्ट माना जाना चाहिए। इस

कारण बाख एवं हर्निश मानकीकरण अभिधारणा (Standardization thesis) को प्रस्तुत करते हुए इस समस्या का समाधान करने का प्रयास करते हैं। इस हेतु हुए सर्वप्रथम परंपरागत अभिधारणा (Conventionality thesis) पर विचार करते हैं। इसके संबंध में उनका दावा है कि यह इस बात की ओर इंगित करता है कि कैसे वाक्–क्रिया–स्कीमा को अर्थ की वृद्धि किए बिना दरकिनार किया जा सकता है। परस्पर विश्वास जो इलोकेशनरी परंपराओं का गठन करते हैं, श्रोता को स्कीमा के चरणों से गुजरे बिना वक्ता के परोक्ष अभिप्राय का तत्क्षण अनुमान करने में सक्षम बनाते हैं। इसीलिए वे मानते हैं कि इलोकेशनरी मानकीकरण की अवधारणा के गठन के लिए इलोकेशनरी परंपराओं की आवश्यकता नहीं होती और केवल इलोकेशन के निरंतर प्रयोग के द्वारा वे मानकीकृत हो जाते हैं। इस रूप में बाख एवं हर्निश परंपरागत अवधारणा का निरसन करके मानकीकृत अवधारणा को प्रस्तुत करते हैं। इलोकेशनरी मानकीकरण को परिभाषित करते हुए उन्होंने लिखा, "इलोकेशनरी मानकीकरण (1):*T* (वाक्य आकार) का प्रयोग मानक रूप से *G* (समूह) में *F* के लिए किया जाता है यदि और केवल यदि : (i) *G* में यह MB-ed (परस्पर विश्वास) है कि जब भी *G* का कोई सदस्य ऐसे संदर्भों में*T* का उच्चारण करता है, जिसमें *T* को (केवल) उसके शाब्दिक रूप से निर्धारित बल (F*-ing) के साथ उच्चारण करना *CP* (संप्रेषणात्मक पूर्वानुमान) का उल्लंघन होगा, तो उसका इलोकेशनरी अभिप्राय के लिए है, और (ii) कि (I) में परस्पर विश्वास (अरिक्त रूप से) सत्य है" [*Illocutionary Standardization*(1):*T* is standardly used to *F* in *G* if and only if:(i) It is MB-ed in *G* that whenever a member of *G* utters *T* in context in which it would violate the CP to utter *T* with (merely) its literally determined force (F*-ing), his illocutionary intent is to *F*, and (ii) The mutual belief in (i) is (nonvacuously) true.]।[32] इस परिभाषा के संबंध में किसी वचन का मानक रूप में प्रयोग किया जा सकता है कि यह एक निश्चित संदर्भ में वक्ता एवं श्रोता के परस्पर विश्वास पर आधारित होता है और इसे संप्रेषणात्मक पूर्वानुमानों से बचना चाहिए, यथा– 'मैं आपको कक्षा से बाहर जाने का आदेश देता हूँ' वचन में 'आदेश' शब्द का प्रयोग हिंदी भाषी व्यक्तियों के लिए हो रहा है, जिसमें यह उनके परस्पर विश्वास पर अर्थात् किसी का आदेश देना एवं अन्य का इसे

आदेश के रूप में स्वीकार करने पर आधारित है। इसके साथ ही उक्त वचन संप्रेषणात्मक पूर्वानुमान को भी दरकिनार करता है, इसलिए इसे आदेश के रूप में माना जाना चाहिए।

यद्यपि इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मानकीकरण में वक्ता का अभिप्राय गौण हो जाता है और जब भाषा कुछ मानदंडों के अनुरूप कार्य करती है, जो कि वस्तुनिष्ठ एवं निरीक्षणीय है, तो भाषा का मानकीकृत स्वरूप प्राथमिक है, यथा–किसी शपथग्रहण में राज्यपाल के सम्मुख जब कोई व्यक्ति जो मुख्यमंत्री की शपथ ग्रहण कर रहा है, कहता है कि 'मैं शपथ लेता हूँ कि मुख्यमंत्री के रूप में प्रदेश की अखंडता एवं सम्प्रभुता अक्षुण्ण रखूंगा', तो यहाँ पर शपथ लेने वाले वक्ता के अभिप्राय के बिना भी क्रिया संपादित होती है। स्पष्टरूपेण भाषा का एक मानकीकृत रूप है जो विविध संदर्भों में लागू होता है एवं संदर्भों के अनुरूप उन्हें कोई क्रिया संपादित करनी भी चाहिए। इस तरह यह भाषा की विशेषता न होकर मानकीकृत अभिधारणा की विशेषता है जो किसी समाज एवं संस्कृति विशेष द्वारा निर्धारित होती है। यद्यपि इसका आशय यह नहीं है कि वक्ता के अभिप्राय का कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि जहाँ मानकीकृत अवधारणा नहीं होती है, वहाँ वक्ता का अभिप्राय सदैव प्राथमिक होता है। इस कारण ऐसा प्रतीत होता है उनकी यह मान्यता कि परोक्ष इलोकेशनरी क्रिया मानकीकृत अवधारणा के अनुरूप संपादित होती है, कुछ सीमा तक समस्याजनक एवं अनुचित है। इस रूप में जब उन्होंने माना कि श्रोता परोक्ष इलोकेशनरी क्रिया में मानकीकृत अवधारणा को आधार मानकर अनुमान करता है, तो यह तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि मानकीकरण भी अत्यंत सीमित एवं जटिल है। इसी दृष्टि से आर. के. पाण्डेय अपने आलेख *"How Performatives Exactly Work"* में लिखते हैं, "जहाँ तक मेरा मत है कि मानकीकरण एवं परोक्षता दोनों परस्पर व्याघाती हैं...यह केवल बताता है कि मानकीकरण भी बहुत स्पष्ट नहीं है अर्थात् मानकीकरण भी भ्रमित, अस्पष्ट, अविश्वसनीय, जटिल, अनिश्चित इत्यादि है। इसलिए श्रोता परोक्षतः अनुमान प्रक्रिया द्वारा इस भ्रम को दूर करने का प्रयास करता है" (So far as I think, standardization and indirection both are contradictory to each other…It simply unfolds that even standardization is not very clear, viz., standardization is also confused, unclear, equivocal,

complex, vague, and the like. The hearer, therefore, indirectly endeavor to take away this confusion by inference process.) ।[33]

V

उक्त विमर्श का मूल्याँकन करने पर द्योतित होता है कि जहाँ एक ओर परंपरावादी दृष्टिकोण इलोकेशनरी क्रिया के अर्थ एवं शक्ति को सामाजिक परंपराओं एवं नियमों द्वारा निर्धारित मानता है, दूसरी ओर, अभिप्रायवादी दृष्टिकोण इलोकेशनरी क्रिया के सफल संपादन के लिए वक्ता के अभिप्राय तथा श्रोता द्वारा उसकी पहचान को नितांत आवश्यक मानता है। इसके अतिरिक्त जहाँ परंपरावादी दार्शनिकों का मानना है कि इसके अंतर्गत सर्वप्रथम, परंपरागत नियम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं, यथा– 'मैं क्षमा मांगता हूँ' कहना क्षमा याचना की क्रिया को संपादित करने की परंपरागत नियमों का पालन करना है। दूसरा, संस्थागत या समारोहगत संदर्भ भी महत्त्वपूर्ण होते हैं, यथा–विवाह के दौरान 'मैं स्वीकार करता हूँ' कहना। तीसरा, वचन के रूप एवं संरचना को भी उपयुक्त होना चाहिए, चूँकि इसके अभाव में इलोकेशनरी क्रिया ठीक ढंग से संपादित नहीं होगी। वहीं अभिप्रायवादी दार्शनिकों का मानना है कि इसके अंतर्गत सर्वप्रथम, वक्ता का अभिप्राय का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि वाक्–क्रिया को संपादित करने में वक्ता अपने वचन से क्या प्राप्त करना चाहता है उसे जानना अनिवार्य है। दूसरा, श्रोता एवं वक्ता में परस्पर पहचान का होना भी महत्त्वपूर्ण है, चूँकि सफल संप्रेषण श्रोता के द्वारा वक्ता के अभिप्राय को पहचानने पर ही निर्भर करता है। तीसरा, संदर्भ एवं अनुमान की भूमिका का भी विशेष स्थान है, चूँकि संप्रेषण का संदर्भ एवं वक्ता के अभिप्राय के बारे में अनुमान लगाने के लिए श्रोता की क्षमता महत्त्वपूर्ण होती है।

फलतः यदि परंपरावादी दृष्टिकोण की मुख्य विशेषता इसमें निहित है कि यह औपचारिक वाक्–क्रिया को समझने के लिए एक सुस्पष्ट एवं सुनिश्चित पद्धति प्रदान करता है जो कि निश्चित संदर्भ एवं परंपराओं में निहित होती हैं, तो वहीं अभिप्रायवादी दृष्टिकोण की विशेषता इसमें निहित है कि यह विशेषकर अनौपचारिक वाक्–क्रिया एवं विविध संदर्भों में मानव संप्रेषण की जटिलता को ध्यान में रखते हुए उदारवादी दृष्टिकोण को स्वीकार करता है। हालाँकि मेरा मानना है कि इलोकेशनरी क्रिया के परंपरावादी एवं अभिप्रायवादी दोनों दृष्टिकोणों की अपनी कुछ सीमाएँ भी

हैं। चूँकि जहाँ परंपरावादी विचार अनौपचारिक एवं परोक्ष वाक्–क्रिया की सूक्ष्मताओं को स्पष्ट नहीं कर सकता, क्योंकि इन स्थितियों में परंपराएँ धूमिल हो जाती हैं, तो वहीं अभिप्रायवादी विचार का अधिक आत्मनिष्ठ होने एवं वक्ता के अभिप्राय को पहचानने के लिए श्रोता की क्षमता पर निर्भर होने के कारण इसकी सटीकता एवं उपयुक्तता का आंकलन करना अत्यंत जटिल हो जाता है। फिर भी इलोकेशनरी क्रियाओं के संबंध में उक्त दोनों दृष्टिकोण अत्यंत महती भूमिका का निर्वहन करते हुए एक–दूसरे के पूरक परिलक्षित होते हैं।

187/92, पान दरीबा जॉनस्टन गंज
प्रयागराज-211003

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी

1. *Austin, J.L. (2009). How to Do Things with Words. J.O. Urmson & M. Sbisà (Eds.), Oxford: Oxford University Press, p. 100.*
2. *Ibid., p. 104.*
3. *Derrida, J. (1997). "Signature Event Context". In Jacques Derrida (Ed.), Limited Inc, Evanston: North Western University Press, pp. 1-23.*
4. *Searle, J.R. (1977). "Reiterating the Différences: A Reply to Derrida". Glyph, Vol. 2, Baltimore MD: Johns Hopkins University, pp. 198-208.*
5. *Frege, G. (1956). "The Thought: A Logical Inquiry". Mind, New Series, Vol. 65, No. 259, pp. 289-311.*
6. *Austin, J.L. (2009). How to Do Things with Words. J.O. Urmson & M. Sbisà (Eds.), Oxford: Oxford University Press, pp. 99-100.*
7. *Strawson, P.F. (1971). "Intention and Convention in Speech Acts". In J.R. Searle (Ed.), The Philosophy of Language, Oxford: Oxford University Press, p. 23.*

8. *Austin, J.L. (2009). How to Do Things with Words. J.O. Urmson & M. Sbisà (Eds.), Oxford: Oxford University Press, pp. 121-122.*
9. *Furberg, M. (1971). Saying and Meaning: A Main Theme in J.L. Austin's Philosophy. Oxford: Basil Blackwell, p. 271.*
10. *Austin, J.L. (2009). How to Do Things with Words. J.O. Urmson & M. Sbisà (Eds.), Oxford: Oxford University Press, p. 103.*
11. *Ibid., p. 118.*
12. *Searle, J.R. (1971). "What is Speech Act?". In J.R. Searle (Ed.), The Philosophy of Language, Oxford: Oxford University Press, p. 40.*
13. *Searle, J.R. (2011). Speech Acts: An Essays in The Philosophy of Language. Oxford: Oxford University Press, p. 57.*
14. *Geis, M. (1995). Speech Acts and Conversational Interaction. Cambridge: Cambridge University Press, p. 6.*
15. *Searle, J.R. (2011). Speech Acts: An Essays in The Philosophy of Language. Oxford: Oxford University Press, p. 43.*
16. *Rust, J. (2009). John Searle. London: International Publishing Group, p. 85.*
17. *Searle, J.R. (2011). Speech Acts: An Essays in The Philosophy of Language. Oxford: Oxford University Press, p. 62.*
18. *Searle, J.R. (1989). "How Performatives Work". Linguistic and Philosophy, Vol. 2, No. 5, pp. 535-538.*
19. *Alston, W.P. (2000). Illocutionary Acts and Sentence Meaning. Ithaca: Cornell University Press, p. 25.*
20. *Ibid., pp. 54-55.*
21. *Grice, H.P. (1971). "Utterer's Meaning, Sentence-Meaning, and Word-Meaning". In J.R. Searle (Ed.), The Philosophy of Language, op.cit., p. 59.*

22. *Schiffer, S. (1972). Meaning. Oxford: Oxford University Press, pp. 92-95.*
23. *Strawson, P.F. (1971). "Intention and Convention in Speech Acts". In J.R. Searle (Ed.), The Philosophy of Language, Oxford: Oxford University Press, p. 31.*
24. *Searle, J.R. (1971). "What is Speech Act?". In J.R. Searle (Ed.), The Philosophy of Language, Oxford: Oxford University Press, p. 46.*
25. *Pandey, R.K. (2003). "How Performatives Exactly Work". Indian Philosophical Quarterly, Vol. 30, No. 2, pp. 219-236.*
26. *Searle, J.R. (1999). Expression and Meaning: Studies in The Theory of Speech Acts. Cambridge: Cambridge University Press, pp. 31-32.*
27. *Bach, K. & Harnish, R.M. (1982). Linguistic Communication and Speech Acts. Cambridge: The MIT Press, p. 7.*
28. *Ibid., p. 61.*
29. *For a detailed account see Ibid., pp. 65-76.*
30. *For a detailed account see Pandey, R.K. (2008). Speech Act and Linguistic Communication. New Delhi: Concept Publishing Company, pp. 139-150.*
31. *Bach, K. & Harnish, R.M. (1982). Linguistic Communication and Speech Acts. Cambridge: The MIT Press, p. 93.*
32. *Ibid., p. 193.*
33. *Pandey, R.K. (2003). "How Performatives Exactly Work". Indian Philosophical Quarterly, Vol. 30, No. 2, pp. 219-236.*